मूल्य परिवर्तन की अवधारणा: स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में

MOOLYA PARIVARTHAN KI AVADHARANA SWATHANTHRYOTHAR HINDI UPANYAS MEIN

Thesis submitted to
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
for the Degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

TESSY GEORGE

Supervising Teacher

Prof. (Dr.) S. SHAJAHAN

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

1994

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **'MOOLYA PARIVARTHAN KI AVADHARANA SWATHANTHRYOTHAR HINDI UPANYAS MEIN'** is a bona-fide record of work carried out by **Ms. TESSY GEORGE** for the Degree of **DOCTOR OF PHILOSOPHY** in the Department of Hindi under my supervision and guidance. No part of this thesis has hitherto been submitted for a degree in any University.

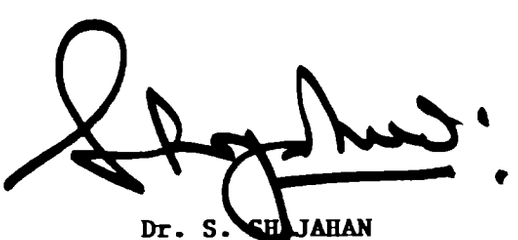

Dr. S. SHAJAHAN
(Supervising Teacher)

Department of Hindi
Cochin University of
Science & Technology
Kochi, Pin - 682 022

Date 29.12.1994

पुरोवाक्

पुरोवाक्

कालजयी रचनाएँ समय की सीमाबद्धता के अन्दर रूपायित होती हुई सीमातीत संवेदना के क्षितिजों का अन्वेषण करती हुई गतिशीलता की अनोखी रूपरेखा प्रस्तुत करती हैं । समय और समाज के दोनों कगारों से होकर प्रवाहित होनेवाली सर्जना की प्रवाहिनी मानवीय संदर्भों से जुडकर मूल्य और मूल्यगत अवधारणाओं के अतल का स्पर्श करने की कोशिश में लगी रहती है । स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास की रचना की बोधवत्ता काल और मूल्य के बीच से होकर अपना रास्ता ढूँढ निकालती है । व्यक्ति, समाज मूल्य और उनके बीच के बदलते संबंध और उनको रूपायित करनेवाली स्थितियाँ इतनी बहुरंगी हो गयीं है कि शोध के परिदृश्य ही बदलने लगते हैं । फिर भी छठे और आठवें दशक के बीच सर्जित रचनाओं की मूल्यसंबंधी अवधारणाओं को निश्चित परिवेश के संदर्भ में मूल्यांकित करना असंभव नहीं है । प्रस्तुत शोध प्रबंध में इस परिवर्तित मूल्यबोध की संकल्पना को एक सीमा तक आयामित करने का प्रयास किया गया है ।

"मूल्य परिवर्तन की अवधारणा स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में शीर्षक इस शोध प्रबन्ध में सन् 1955 से लेकर सन् 1980 तक रचे गये प्रतिनिधि उपन्यासकारों के उपन्यासों की रचना प्रक्रिया के आधार पर परिवर्तित मूल्यबोध का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । शोध प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है । "मूल्यों की अवधारणा और सामाजिक

परिप्रेक्ष्य", "स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध और प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास", "परिवर्तित जीवनदृष्टि के आयाम", "व्यक्ति-मूल्य और सामाजिक परिप्रेक्ष्य", "संवेदना और संरचना", ये अध्यायों के शीर्षक रहे हैं ।

"मूल्यों की अवधारणा और सामाजिक परिप्रेक्ष्य" शीर्षक प्रथम अध्याय में मूल्य, उसकी अवधारणा और सामाजिक परिप्रेक्ष्य की भूमिका बाँधने की कोशिश की गई है । मूल्य-व्याख्या, सामाजिक परिप्रेक्ष्य, मूल्यपरिवर्तन की दिशा को शक्तिप्रदान करनेवाली अन्दरूनी स्थितियाँ आदि की पूर्वपीठिका इस अध्याय में प्रस्तुत की गई है ।

दूसरे अध्याय का शीर्षक है "स्वातन्त्र्योत्तर मूल्यबोध और प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास" । इस अध्याय में सबसे पहले स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध के विविध आयामों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । साथ-ही-साथ उन तत्वों पर भी प्रकाश डाला गया है जिन्होंने स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध को रूपायित किया है । उपन्यासों का अध्ययन करते हुए मूल्यबोध को राजनैतिक, सामाजिक, वैयक्तिक और अराजकतावादी चेतना से जोडकर देखने का प्रयास इस अध्याय में हुआ है ।

इस शोध प्रबन्ध का तीसरा अध्याय है "परिवर्तित जीवनदृष्टि के आयाम" । इस अध्याय में परंपरागत भारतीय जीवनदृष्टि का

परिचय देते हुए समसामयिक जीवनदृष्टि से उसकी तुलना की गई है । सामयिक दृष्टि जीवंतता का प्रमाण देती है और कालगत यथार्थ का पक्ष लेती है । जबकि परंपरागत मान्यता एक सीमा तक आदर्शात्मक हो जाती है । इस विशेष परिवेश में उपन्यासों के आधार पर परिवर्तित मूल्यों से आयामित स्थितियों का अन्वेषण प्रस्तुत किया गया है ।

"व्यक्ति-मूल्य और सामाजिक परिप्रेक्ष्य" शीर्षक चौथे अध्याय में समसामयिक परिवेश में व्यक्तिबोध की नई व्याख्या को प्रस्तुत करते हुए अस्तित्व की समस्या और मूल्यों के निषेध पर प्रकाश डाला गया है । इतनी भूमिका बाँधने के बाद उपन्यासों की स्थितियों के आधार पर व्यक्ति और समाज का संघर्ष, राष्ट्रीय परिवेश का प्रभाव, मूल्यबोध का रूपायन आदि पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया गया है । उपन्यासों में आए हुए पात्र और परिस्थितियाँ, व्यक्ति और समाज के मूल्यबोध के परिवर्तन को जिस ढंग से अभिव्यंजित करते हैं, इसका अध्ययन इस अध्याय में हुआ है ।

पाँचवें अध्याय का शीर्षक है "संवेदना और संरचना" । इस अध्याय में रचना की अन्तरधारा, लेखकीय प्रतिबद्धता और आयामित रचना प्रक्रिया, संरचनात्मक विशेषताएँ, मूल्यपरिवर्तन की सामयिक अवधारणा आदि वैविध्यात्मक पक्षों पर आलोच्य उपन्यासों के आधार पर विवेचन किया गया है । उपन्यासों की मूलभूत संवेदना को एवं उसकी अभिव्यंजना की विशिष्टता को समीक्षात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास भी इस अध्याय में किया गया है ।

"उपसंहार " में अध्ययन के आधार पर उभरनेवाले निष्कर्षों का संक्षिप्त-विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध, कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर डॉ. एस. शाँहजहाँ के विद्वत्वपूर्ण निर्देशन में संपन्न हुआ है । उनके पथप्रदर्शन ने ही इस शोध कार्य को दिशा एवं दृष्टि दी है । मैं उनके प्रति सदैव आभारी हूँ । विभागाध्यक्षा डॉ. एम. ईश्वरी के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ । इस विभाग के आदरणीय गुरुजनों, पुस्तकालयाध्यक्षा और अन्य कर्मचारियों और मित्रों के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ ।

Tessy George
टेसी जॉर्ज

हिन्दी विभाग
कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय,
कोचिन - 22.

29 दिसंबर 1994.

विषय - सूची

विषय - सूची

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय — 1 - 27

मूल्यों की अवधारणा और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

मूल्य व्याख्या - मूल्य संबंधी पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोण में अन्तर - अवधारणात्मक अध्ययन - मूल्य और सामाजिक परिप्रेक्ष्य - भारतीय जनमानस पर अराजकतावादी मूल्यनीति का प्रभाव - मूल्यपरिवर्तन की दिशाएँ - मूल्य और लेखन की प्रक्रिया ।

दूसरा अध्याय — 28 - 86

स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध और प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास

राजनीतिक बोध - उखडे हुए लोग - यह पथ बन्धु था - राग दरबारी - महाभोज

सामाजिक बोध - अँधेरे बन्द कमरे - अलग अलग वैतरणी - आप का बंटी

वैयक्तिकता और अस्मिता की तलाश - डाक बँगला - वे दिन - रुकोगी नहीं राधिका - सूरजमुखी अँधेरे के

मूल्यनिषेध और अराजकता - उखडे हुए लोग - कड़ियाँ - आतंक

पृष्ठ संख्या

तीसरा अध्याय — 87 - 143

परिवर्तित जीवनदृष्टि के आयाम

परंपरागत जीवनदृष्टि - समसामयिक दृष्टि की विशिष्टता - पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता - परिवर्तित मूल्यों से आयामित स्थितियाँ - आलेखन की सीमाएँ ।

चौथा अध्याय — 144 - 180

व्यक्ति मूल्य और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

व्यक्तिबोध की नयी व्याख्या - अस्तित्व की समस्या और मूल्यों का निषेध - व्यक्ति और समाज का संघर्ष - राष्ट्रीय परिवेश का प्रभाव - मूल्यबोध का रूपायन ।

पाँचवाँ अध्याय — 181 - 246

संवेदना और संरचना

लेखकीय प्रतिबद्धता और आयामित रचना प्रक्रिया - रचना की अन्तरधारा - संवेदना और कथ्य रूपायन - संरचनात्मक विशेषताएँ - मूल्य रूपायन की सामयिक अवधारणा - औपन्यासिक संदर्भ में ।

उपसंहार — 247 - 250

संदर्भ ग्रन्थ सूची — 251 - 258

पहला अध्याय

मूल्यों की अवधारणा और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

पहला अध्याय

मूल्यों की अवधारणा और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

सामाजिक जीवनबोध को रूपायित करनेवाली व्यक्तिचेतना का स्वरूप कई ऐसी अवधारणाओं पर आधारित है, जिनकी गहराई परंपरा, संस्कृति, आस्था और निष्ठा के साथ-साथ समय के स्पर्श से भी जुडती है । इसलिए मूल्य शब्द की व्याख्या करना और मूल्य की अवधारणा को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आंकना एक संकीर्ण कार्यक्रम है । क्योंकि, व्यक्ति और समाज की अलग अलग इकाइयाँ, जिन सीमा रेखाओं पर आ मिलती है, वे सीमारेखाएँ चेतना के स्तर पर और तार्किकता के धरातल पर अभंगुर रहने की कोशिश में समय के द्वारा निर्धारित की गई है । इसका यह अर्थ होता है कि तर्क का सांगत्य, मानवीय चेतना से जुडकर मूल्य का स्वरूप निर्धारित करने के लिए जब प्रतिबद्ध होता है, तब समय की सीमाबद्धता उस पर अपना प्रभाव अवश्य डालती है । वस्तुतः मूल्य की व्याख्या और मूल्यसंबंधी अवधारणा व्यक्ति, समाज, समय और परिवेश की सीमा बिन्दुओं से जुडती है । कालबद्धता पर ज़ोर दिए जाने के कारण मूल्यगत अवधारणाएँ कालखण्ड में दिखाई पडनेवाली मानव की मानसिकता का रूपांकन अवश्य करती हैं । वस्तुतः मूल्यसंबंधी व्याख्या को निश्चित रूप से आयामित करना अधिक कठिन कार्य बन जाता है ।

1. मूल्य व्याख्या :-

समसामयिक समाज में सबसे अधिक चर्चित होनेवाला शब्द है "मूल्य" । हिन्दी में प्रयुक्त "मूल्य" शब्द संस्कृत की "मूल" धातु के साथ "यत्" प्रत्यय संयुक्त कर देने से बना है, जिसका अर्थ कीमत, मज़दूरी आदि होता है । "मूल्य शब्द अंग्रेज़ी के 'value' शब्द का समानार्थी है और लेटिन भाषा के 'valere से बना है, जिसका अर्थ अच्छा, सुन्दर आदि होता है ।"[1] अर्थात् "मूल्य" शब्द के अर्थ में शिवं और सुन्दरम्

---

1. संस्कृत हिन्दी कोश - वामन शिवराज आप्टे - पृ. 812.

सन्निहित रहते हैं । मूल्यों की व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि समाज की व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए स्वीकृत सिद्धांत ही "मूल्य" बनते हैं ।

भारत में मूल्य संबंधी चिंतन पुरुषार्थों के रूप में हुआ है । संस्कृत साहित्य में पुरुषार्थों को मानवीय जीवन के आधार रूप में दिखाया गया है । "मूल्य" शब्द को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों का सम्मिलित रूप माना गया है । वैदिक साहित्य में भी "मूल्य" को "जीवन इष्ट" या "जीवन लक्ष्य" के रूप में स्थान मिला है । जिन सात्विक गुणों की चर्चा वैदिक साहित्य में हुई है - जो जीवन की श्रेयस् तथा प्रेयस् को बढानेवाले है - उन्हें "मूल्य" माना जाता है ।

डा. धर्मवीर भारती के अनुसार मूल्य व्यक्तिविशेष द्वारा प्रतिपादित होने पर भी व्यक्तिगत नहीं हो सकता । मूल्य, न पूर्णतः वस्तुगत होते हैं और न पूर्णतः व्यक्तिगत । ये वस्तु-व्यक्ति के परस्पर संबंधों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं, संघर्षों - संगतियों के फल होते हैं ।"[1] समाज और मूल्य, दो ऐसे शब्द है जिनका विशिष्ट संबंध बना रहता है और सारे मानवीय संबंधों का आधार इस मूलभूत संबंध में ढूँढा जा सकता है । व्यक्ति के जीवन को समाज के अनुकूल या सामाजिक सीमारेखाओं के अन्तर्गत बनाए रखने के लिए स्वीकृत मान्यताओं को हम "मूल्य" मान सकते हैं । मूल्यों से मानवीय क्रिया-कलापों, सामाजिक अन्तक्रियाओं तथा व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है । "मूल्य" मानदण्ड होते हैं, जिनसे व्यक्ति मर्यादित होता है ।

कुछ विद्वानों ने मूल्य को संस्कृति का अभिन्न अंग के रूप में आंकने की कोशिश की है । प्रत्येक समाज की संस्कृति के अपने मूल्य होते हैं । एक समाज या देश के लिए जो श्रेष्ठ मूल्य है, दूसरों के लिए उसका महत्वपूर्ण होना अनिवार्य नहीं ।

---

१. मानव मूल्य और साहित्य - डा. धर्मवीर भारती - पृ. ५०

"मूल्य" जीने का दृष्टिकोण है । "मूल्य" मानवीय जीवन के ऐसे लक्ष्य हैं, दृष्टिकोण हैं, जो समाज द्वारा स्थापित किए जाते हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए मान्य हैं, जो अदृश्य रूप में कार्य कलापों तथा विचारों को संचालित और संयमित करते हैं ।

जीवन कैसा होना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर है "मूल्य" । डा. हुकुमचन्द के अनुसार "जीवन को व्यवस्थित एवं संयमित ढंग से चलाने के लिए भारतीय विचारकों ने पुरुषार्थ की कल्पना की है जिसे हम "मूल्य" का प्रारंभिक रूप मान सकते हैं ।"[1] अतः समाजहित में जिन मान्यताओं को प्रमुखता मिलती है तथा जो एक अदृश्य सीमारेखा के रूप में काम करते है, वही "मूल्य" होते हैं ।

अस्तु "मूल्य, समाज रूपी शरीर में हृदय के समान है जो समस्त समाज में जीवन का संचार करता है ।"[2] व्यक्ति के जीवन को समाज के अनुकूल या सामाजिक सीमारेखाओं के अन्तर्गत बनाए रखने के लिए स्वीकृत मान्यताओं को हम "मूल्य" मान सकते हैं ।

डा. हरदत्त शर्मा सुधांशु मूल्य संबंधी अपना विचार यों व्यक्त करते हैं – "कठिनाइयों को पार करने के लिए शरीर यथार्थ से टकराता हुआ चलता है और मस्तिष्क में आदर्श बिन्दु प्रतिष्ठित रहते हैं । यह आदर्श बिन्दु ही मनुष्य को, समाज को, राष्ट्र को यथार्थ की कठोर भूमि पर चरण टिकाते हुए निरंतर उत्थान की ओर प्रेरित ही नहीं, कार्यरत भी करते रहते हैं । इन आदर्शों के लिए आधुनिक शब्द

---

1. आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य – डा. हुकुमचन्द – पृ.18
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण – डा. हेमेन्द्रकुमार पानेरी – पृ.17

प्रचलित है "जीवन-मूल्य" ।"[1]

इस प्रकार मूल्य की परिभाषा पर आधारित तत्वों का विश्लेषण करते समय स्पष्ट होने लगता है कि मूल्य की अवधारणा व्यक्ति, समाज और उसके व्यवस्थित जीवन से संबंधित है । मूल्य यद्यपि सूक्ष्म बोधवत्ता के परिणाम हैं, फिर भी उनका स्थूल संबंध व्यक्ति और समाज के साथ है । व्यक्तिमन और सामूहिक जीवन, दोनों मूल्य संकल्पना के दो पहलू है । आचरण, निष्ठा और आस्था आंदरिक रूप में मूल्यचेतना को बनाए रखनेवाले प्रेरक तत्व हैं । मूल्य को आचरण के विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित करते समय भी उसकी समाजपरकीयता को नकारा नहीं जा सकता । इस कारण मूल्यसंबंधी अवधारणा समाजसापेक्ष होने के साथ समय सापेक्ष भी हो जाती है । मूल्य की समय-सापेक्षिकता को कई ऐसे बाहरी तत्व प्रभावित करते हैं जो समाज की परिवेशजन्य स्थितियों को बनाते हैं और बिगाडते भीहैं। वस्तुतः मूल्यसंबंधी परिभाषा, अवधारणात्मक बोध या उसकी व्यावहारिकता कई मायनों में परिवर्तनशील होती है । इस कारण प्रत्येक देश, काल और संस्कृति अपनी - अपनी मूल्यचेतना को जन्म देते है और ये मूल्य चेतना उस जाति, संस्कृति और देश की मुखमुद्रा बन जाती है ।

ऐसा होने पर भी कुछ ऐसे स्थाई मूल्य होते हैं जो समूची मानवता के लिए स्वीकार्य माने जाते हैं और उनको हम **मानवीय मूल्य** मानते हैं । ये "मूल्य" देश और काल की सीमारेखाओं को लांघकर जीवन के आधारभूत मूल्य बन जाते हैं । साधारणतया इस प्रकार के मूल्यों में जल्दी से परिवर्तन नहीं होता और इन्हीं के आधार पर विश्वनीति के सिद्धांत रूपायित किए जाते हैं ।

---

1. साहित्य और मानवीय मूल्य - डा. हरदत्तशर्मा सुधांशु, "साक्षात्कार" - अप्रैल 1993, पृ. 32.

इसका यह अर्थ होता है कि मूल्य संचेतना के विश्वजनीन आधार जहाँ एक ओर होते हैं तो प्रादेशिक रूप में भी उसके कुछ अलग से आधार होते हैं । क्षेत्रीय मूल्यबोध की अवधारणा जातिगत, वर्गगत, संस्कृतिगत और अर्थजन्य स्थितियों से जुडकर जन्म लेती है । इसका परिवर्तित होते रहना उन क्षेत्रीय विशिष्टताओं का परिणाम है । जबकि मूल्यसंबंधी सार्वलौकिक आदर्श क्षेत्रगत सीमाओं से प्रभावित नहीं होते । अस्तु, व्यापक स्तर पर मूल्यों की अवधारणा क्षेत्रीय मूल्य अवधारणा से कभी कभी विरोधात्मक स्थितियों का सामना करने के लिए मज़बूर हो जाती है ।

2. मूल्य संबंधी पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोण में अन्तर :-

मूल्यों के संबंध में पाश्चात्य दृष्टिकोण भारतीय दृष्टिकोण से भिन्न है । परंपरागत दृष्टि से भारतीय मूल्यों का आधार आध्यात्मिक चेतना रही है । भौतिकवादी जीवन पर ज़ोर न देने के कारण भारतीय मूल्यबोध का आधार एक सीमा तक आत्मीय चिंतन और उससे जन्म लेनेवाली शाश्वत शांति की और मोक्ष प्राप्ति की भावना रही है । वस्तुतः भारतीय मान्यताएँ आत्मा की अनंत यात्रा की विविध भूमिकाओं से जुडकर किए जानेवाले कार्यकलापों पर विश्वास रखती हैं । इस कारण जन्मजन्मांतर के संस्कार मूल्य रूपायन में परोक्ष रूप में प्रभाव डालते रहे हैं । भौतिकता के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को महत्व देनेवाली प्रस्तुत चेतना भौतिक सुखभोगों का तिरस्कार करती हुई बढ़ती है । मूल्यच्युति से उत्पन्न अपराध से बचने का आदेश देती है । इस कारण भारतीय मूल्य अवधारणा में धार्मिकता, सद्भावना और नैतिकता को अधिक महत्व प्राप्त होता है ।

परंतु पाश्चात्य दृष्टिकोण, भारतीय दृष्टिकोण की आध्यात्मिक भावना को मूल्य के संदर्भ में नहीं स्वीकारता । भौतिक साधनों की प्राप्ति और समाज की उन्नति, सुखभोगों का चयन आदि पर ज़ोर देने के कारण पाश्चात्य मूल्यबोध

भौतिक सीमा रेखाओं से घिरा हुआ है । व्यक्ति और समाज को प्राप्त होनेवाला लाभ भी मूल्य रूपायन में यहाँ सहायक माना जाता है । मार्क्सवादी दृष्टिकोण में तो सिर्फ भौतिक साधन ही सामाजिक उन्नति के आधार हैं । मूल्य और नियम इसी भौतिकता की सुरक्षा को लक्षीकृत करके बनाए जाते हैं । समाज में व्यक्ति को प्राप्त होनेवाला लाभ या व्यक्ति को समाज से प्राप्त होनेवाला लाभ प्रयोजनमूलक मूल्यवाद का आधार है । आध्यात्मिक मूल्यभावना से उनका कोई संबंध नहीं रहता । लौकिक आचरण के निश्चित नमूनों के रूप में ही पाश्चात्य दृष्टि मूल्य को आंकती है । इसके आगे उसका कोई महत्व नहीं । मानवता की भावना से या किसी को दुःख न पहुँचाने की निश्चित प्रणाली से उसका कोई अनिवार्य संबंध नहीं है । आचरण की विशिष्टताएँ परिस्थितिजन्य सीमाओं से जुडकर दूसरे को दुःख भी पहुँचा सकती हैं और कष्ट भी दे सकती हैं । ऐसी स्थिति में व्यक्ति मात्र की भौतिक भलाई की बात सोचकर चलना पाश्चात्य मूल्य-विधान में महत्वपूर्ण बात रही है ।

इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य मूल्यप्रतिमान अलग-अलग सीमा रेखाओं से आबद्ध होकर समानांतर दृष्टिकोण को अपनाते हुए समाज में प्रतिष्ठित होते हैं । मूल्य परिवर्तन की विशिष्टता इस बात पर आधारित होती है कि पाश्चात्य दृष्टिकोण कहाँ तक भारतीय दृष्टिकोण को परिवर्तित करता है । दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक मूल्यसंहिताओं पर भौतिक मूल्यसंहिता कहाँ तक अपना प्रभाव छोडती है, यह मूल्य परिवर्तन के स्वरूप को आंकने में सहायक होता है ।

3. अवधारणात्मक अध्ययन :-

प्रत्येक समाज के अस्तित्व को सुस्थिर करनेवाले आधारों में से सबसे प्रमुख है उसकी मूल्यवत्ता । मूल्यवत्ता से तात्पर्य उस समूचे मूल्यबोध से है, जिसको अपनी नींव मानकर समाज का ढाँचा खड़ा किया जाता है । समाज व्यक्तियों का समूह है जिनके बीच आदान-प्रदान करने का कोई निश्चित तरीका होता है ।

आदान-प्रदान की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए नियमों की ज़रूरत पड़ती है । नियम समाज की सुस्थिरता और व्यक्ति की भलाई को सामने रखकर बनाए जाते हैं । भलाई और व्यवस्था मूल्यों के स्वरूप को एक सीमा तक रूपायित करने के लिए सहायक होते हैं । व्यक्ति मात्र का कल्याण, समाज की व्यवस्था के साथ जुडकर सर्वस्वीकृति से मूल्य बनता है वही समाज स्वस्थ होता है, जिसमें व्यक्ति का कल्याण, सामाजिक कल्याण का अंग बनकर उभरता है और व्यवस्था से अनुमोदित होता है । इस तरह मूल्य के अनुमोदन में और उसके समर्थन में व्यक्ति कल्याण, समाज कल्याण और व्यवस्था के मौलिक तत्व विद्यमान होते हैं ।

व्यक्ति कल्याण की बात को लेकर मूल्य जब स्थिर होता है, तब उसके जीवन के सभी पहलुओं का समावेश उसमें होने लगता है । एक इकाई के रूप में व्यक्ति की भौतिक आशाएँ और आकांक्षाएँ प्रमुख रूप से उसमें प्रतिबिंबित होती है । साथ - ही - साथ आध्यात्मिक जीवन को दृष्टि देने की सूचनाएँ भी उसमें उपलब्ध होती है । समन्वित मूल्यबोध का आधार यही माना जा सकता है । यदि व्यक्ति को भौतिक स्तर पर उभर उठाने के लिए मात्र मूल्य रूपायित होते हैं, तो उसमें आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव के कारण एकांगिता आ सकती है । इसलिए भारतीयों ने मूल्यों में आध्यात्मिक तत्व के समन्वय को भी महत्व प्रदान किया था ।

व्यक्ति को इकाई के रूप में देखकर उसके कल्याण के लिए भौतिक साधनों का विकास करते समय आध्यात्मिकता का गौण होना स्वाभाविक है । जैसे-जैसे भौतिक विकास की आकांक्षा बढ़ती है वैसे-वैसे आध्यात्मिकता से व्यक्ति का दूर होना एक स्वाभाविक परिणाम है । वस्तुत: मूल्य रूपायन की स्थितियों में अन्तर आ जाने के कारण इकाई रूपी मानव के कल्याण के लिए बनाए जानेवाले मूल्य कभी-कभी सामूहिक इकाई के साथ संघर्षरत होने लगते हैं । तब व्यक्ति और समूह के कल्याण की समन्वित भावना में व्यवस्था का लोप होने लगता है । ऐसी स्थिति में मूल्य की

अवधारणा व्यवस्था की सीमारेखाओं को तोडकर स्वतंत्र होने की कोशिश करती है । सामाजिक संघर्ष का और मूल्यगत अराजकता का प्राथमिक लक्षण इस अव्यवस्था की स्थिति में दिखाई पडता है । जहाँ व्यक्ति की इकाई, सामूहिक इकाई के कल्याण के विरुद्ध काम करने लगती है, तब मूल्यदृष्टि से व्यक्ति दण्डनीय अपराध का भागीदार होता है ।

लेकिन व्यवस्था की सीमा को तोडकर व्यक्ति का मूल्यबोध परिस्थितिगत दबाओं से सामूहिक इकाई के कल्याण का विरोध करने के लिए बाध्य होता है, तब मूल्य परिवर्तन की स्थितियाँ दण्डनीति के सिद्धांतों के बाहर चली जाती है । दूसरे शब्दों में बदली हुई परिस्थितियों के कारण व्यक्ति, नियमों को तोडकर सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने के लिए बाध्य हो जाता है तब मूल्यपरिवर्तन की स्थितियों का आरंभ होने लगता है । कई व्यक्ति जब इस प्रकार का उल्लंघन करने लगते हैं और उल्लंघन के बाद जन्म लेनेवाले मूल्य, "नये मूल्य" बनने लगते हैं । व्यवस्था का नियम धीरे-धीरे उल्लंघन के द्वारा बनाए जानेवाले नियमों को मान्यता देने के लिए मज़बूर हो जाते हैं । धीरे-धीरे समाज में दिखाई पड़नेवाले इन परिवर्तनों को समाज का एक विभाग "मूल्यच्युति" का नाम देता है तो दूसरा विभाग उसे परिवर्तित मूल्य समझकर स्वीकारता है । मूल्य प्रवाह की दिशा में आनेवाले परिवर्तन को वर्षों के बाद समाज पूर्णतया स्वीकृति दे देता है ।

मूल्य संक्रमण की स्थितियों को प्रभावित करनेवाले और मूल्य की अवधारणा को नया मोड़ देनेवाले तत्व समाज की विशिष्ट परिस्थितियों में जन्म लेते हैं । राजनीति, अर्थनीति, आस्था में आनेवाले परिवर्तन, मानवीयता पर अविश्वास, भौतिक लाभ की आकांक्षा कुछ ऐसे तत्व हैं जो मूल्य की अवधारणा को परिवर्तित कर देते हैं । ये तत्व जानबूझकर किसी के किए गए प्रयास के कारण जन्म नहीं लेते । अपितु उनका चयन, समय की आवश्यकताओं के अनुसार, समसामयिक, राष्ट्रीय और

अन्तरराष्ट्रीय ज़रूरतों के अनुसार होने लगता है । दूसरे शब्दों में उपर्युक्त तत्वों पर आधारित होकर रूपायित होनेवाली मूल्य-प्रक्रिया बहुत बडी सीमा तक समाज की अपनी सत्ता और प्रभुता के बाहर की स्थितियों से जुडती है ।

राजनीति एक ऐसी शक्ति है, जो जीवन के हर पहलू को प्रभावित करती है । जहाँ तक भारतीय परिवेश का सवाल है, यह कहना पडता है कि आज़ादी की प्राप्ति और उसके बाद की राजनैतिक गतिविधियाँ इतनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है कि जनजीवन का प्रत्येक पहलु उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता । राजनीति के इतने अलग चेहरे उभर कर आए है कि प्रत्येक चेहरे के अन्दर सैकड़ों मुखौटे छिपकर रहने लगे । मुखौटेधारी व्यक्तित्व को लेकर राजनीतिज्ञों ने जो खेल खेला उससे समूचे देश की मूल्याधिष्ठित दृष्टि धूमिल पडती गई । स्वस्थ राजनीतिक परंपरा की समाप्ति धीरे-धीरे होती रही । इस वातावरण में विश्वास, न्याय और निष्पक्षता के स्थान पर धोखेबाज़ी, भ्रष्टता, धाँधली आदि की प्रतिष्ठा होने लगती है । इसी के परिणामस्वरूप जनता का विश्वास राजनीतिक चालबाज़ी का शिकार बन गया और नेता की देखादेखी में जनता भी पूर्व स्थापित मूल्यों से विमुख होती रही । यहाँ यह कहना पडता है कि प्रयोजनमूलक और उपयोगितावादी राजनीति ने जनता को परंपरागत मूल्यबोध से अलग होने के लिए बाध्य किया है । इसका नतीजा बहुत ही खतरनाक साबित होने लगा । इस विशेष परिस्थिति में सामूहिक कल्याण, वैयक्तिक लाभ के लिए अपना सर झुकाता गया और ऐसी स्थिति आ पहुँची कि सामाजिक कल्याण की भावना ही तिरोहित होती रही ।

भारतीय राजनीति में आनेवाले परिवर्तनों चालबाज़ी, दलबदली और भ्रष्टनीति को नए राजनीतिक मूल्यों के रूप में उभारने की कोशिश की है । इसके परिणामों ने आज़ादी के बीस-तीस वर्षों के बाद समूचा सामाजिक जीवन को

मूल्यच्युति का शिकार बनाया है । इस स्थिति का एक और नतीजा यह हुआ कि इस मूल्यच्युति को मूल्य परिवर्तन के नाम से लोगों ने स्वीकारना शुरू किया । समाज पर और राष्ट्र पर आया हुआ सबसे बड़ा तूफानी बदलाव इस राजनैतिक मूल्य-विस्थापन से होने लगता है । मूल्य संबंधी अवधारणा को रोज़-रोज़ आनेवाले राजनेताओं के प्रस्तावों ने इतना घायल कर दिया कि अब अवधारणा की आधारभूमि ही परिवर्तित हो गई । आज राजनीतिक दृष्टि से मूल्य वह है, जिसके आधार पर व्यक्ति को सत्ता, प्रभुता, धन और ख्याति प्राप्त हो सकती है । इसके लिए स्वीकारे जानेवाले कलुषित मार्गों की और नकारात्मक नीतियों की परवाह कोई भी नहीं करता । इस प्रकार राजनीतिक स्तर पर आई हुई अवधारणात्मक भ्रष्टता ने मूल्य को च्युत या परिवर्तित करने के लिए बाध्य किया है ।

अर्थनीति के प्रहारों ने व्यक्ति और समाज की इकाइयों को व्यवस्थाहीन बनाने में मदद पहुँचाई है । जीवन का आधारभूत तत्व अर्थ है । अर्थ के अभाव में कोई भी व्यक्ति संतोषजनक जीवन नहीं बिता सकता । भौतिकता पर आधारित अर्थचयन का दायित्व जनता द्वारा चुनी गई सरकार को करना पडता है । विश्वास यह भी किया जाता रहा कि भारतीय संविधान द्वारा अनुमोदित अर्थ के सम वितरण की संभावना धीरे धीरे पूर्ण हो जाएगी । परंतु व्यावहारिक रूप में यह देखा गया है कि अर्थ-वितरण की समानता की संभावना अदृश्य हो गई । उसके स्थान पर अर्थ कुछ इने-गिने परिवारों के हाथ में आकर सुरक्षित होता गया । अरक्षित लोगों की पुकार केवल आरण्यरोदन बनकर रह गई । इसका परिणाम यह हुआ कि अमीर और भी अमीर बने और गरीब और अधिक गरीब । बीच में पनपनेवाला मध्यवर्ग न तो अमीर बन पाया, न ही बिलकुल गरीब । भारतीय अर्थनीति में छाई हुई ह्रासोन्मुख आयोजन नीति ने अर्थ की श्रेष्ठता को सारे विश्वासों के ऊपर प्रतिष्ठित किया । परिणाम यह हुआ कि धन के तराजों में सारे विश्वास, सारी आस्था, सारी सद्भावना और मानवीयता पर आधारित मूल्य मूल्यहीन हो गए और अर्थ के गुलाम बन गए । भारतीय

जनजीवन में पिछले चालीस वर्षों में आया हुआ यह परिवर्तन जनजीवन और आचरण की भद्र नींव को उखाड़ फेंकने में सहायक सिद्ध होता है । परंपरागत मूल्य यहाँ हार बैठे और उखडी हुई धरती की श्मशान भूमि में उनको दफनाने के लिए लोग बाध्य हो गए । अर्थ प्राप्ति के इस भयानक बवंडर में रिश्ते-नाते, संबंध, पारिवारिक आत्मीयता, पति-पत्नी की प्रेमातुरता, भाई-बहन के लहू का संबंध, पिता-पुत्र की अभिन्नता सब बह गए और अर्थ ने उन सबको बहाकर एक अनोखी धरती को उभारा, जहाँ मूल्य नये सिरे से, नए ढंग से उभरने के लिए विवश होते रहे ।

आस्थामूलक परिवर्तन एक ऐसा परिणाम है, जो राजनीति और अर्थनीति के प्रभाव से जन्मा हुआ है । स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जनजीवन का विश्लेषण करते समय पता चलता है कि पिछले चालीस वर्षों में भारतीय जनमानस से आस्था का धीरे-धीरे लोप होता रहा है । राजनीतिक और आर्थिक प्रहारों ने आस्था को इस तरह पीड़ाग्रस्त किया कि ईश्वर पर, सत्य पर, न्याय पर और रात की जीत पर होनेवाली विश्वास की और आस्था की ज्योति फीकी पडती गई । जब जनता ने देखा कि, अन्याय, धोखेबाजी, रिश्वतखोरी, सांप्रदायिकता, भाई-भतीजावाद आदि पनपते जा रहे हैं और सत्य की हमेशा हार होती रही है और धन-दौलत और प्रभुता दुष्टों के हाथ में जाकर टिकने लगी है तब उनकी आस्था अविश्वास के शिकार बन गई । उन्हें बोध होने लगा कि उनकी रक्षा के लिए शायद भगवान भी नहीं आ सकता । इसके परिणामस्वरूप जो निराशा, कुण्ठा, नफरत और अकेलापन जन्म ले गया, उसने समूचे मूल्यों का निराकरण किया । परंपरागत मूल्यों को हमेशा के लिए दफनाकर नए मूल्यों को उभारना उनके लिए एक महज जुरूरत थी । आस्था-हीनता की इस रथयात्रा में जो भी मूल्य अपने हाथ बचे थे उनको भी लोगों ने लुटा दिया । मूल्य-च्युति को अपने मन में प्रतिष्ठित करने का दौरा यहाँ से शुरू होता है, आज़ादी के बीस-पच्चीस वर्ष बाद ।

मानवीयता पर अविश्वास का जन्म लेना मूल्य परिवर्तन का एक प्रमुख चरण माना जा सकता है । आस्थाहीनता का परिणाम ने व्यक्ति को व्यक्ति पर अविश्वास करने के लिए बाध्य किया है । फलतः व्यक्ति अपने ही दायरे के अंदर सीमित होने लगा । स्वार्थ की सीमारेखाओं ने सामाजिक मूल्यों का निषेध तो किया है साथ-ही दूसरे व्यक्ति की तबाही को अपने जीवन की संपूर्णता के लिए आवश्यक तत्व भी माना है । यानी दूसरे के खून से अपनी ज़िन्दगी को रंगीन बनाने का निषेधात्मक दर्शन व्यक्ति के मन में प्रतिष्ठित होता गया । इसका आत्यंतिक परिणाम यह हुआ कि, मानवीयता से व्यक्ति की आस्था उड़ गई । दया, प्रेम, करूणा, स्नेह, सद्भाव, भाईचारा आदि का लोप होता गया और मानवीय मान मर्यादा का भी उल्लंघन स्वीकारा गया । मानवीयता से व्यक्ति का अलग हो जाना और अपने को मानव की मूलभूत अनुभूतियों से अलग कर देना बहुत ही खतरनाक साबित हुआ । पास-पास रहकर भी अजनबी बन जाना, एक ही छत के नीचे पति-पत्नी का अजीब सा व्यवहार करना, आस-पास के लोगों से सहानुभूति न प्रकट करना, यांत्रिकता के बोझ से जीवन को अभिशप्त बना देना और मुखौटेधारी व्यक्तित्व को स्वीकारना, अतिमानव से लघुमानव बन जाना, इसी मानवीयता के ह्रास के परिणाम है । उपर्युक्त गुणों को नागरिक जीवन की चमकती तस्वीर के अंदर छिपाकर शहर की ज़िन्दगी जीनेवाला व्यक्ति स्वयं यह भूल गया कि वह कटा हुआ है, पिटा हुआ है और लक्ष्यहीन है ।

भौतिक लाभ की आकांक्षा, मानव मूल्य को परिवर्तित करनेवाली एक विशिष्ट प्रेरक शक्ति मानी जा सकती है । स्वातंत्र्योत्तरकालीन परिवेश में व्यक्ति की दृष्टि पूर्ण रूप से भौतिक हो गई और प्रयोजनवादी बन गई । व्यक्ति, हर कार्य में अपने स्वार्थ की पूर्ति का उद्देश्य छिपाकर रखने लगा । इस कारण कोई भी कार्य संपूर्ण आत्मीयता के साथ करने में वह असमर्थ होता रहा । समाज के प्रति, व्यक्ति के प्रति और मानवीयता के प्रति जिस प्रतिबद्धता को अपनाना चाहिए था,

उसकी समाप्ति होती गई । स्वार्थसिद्धि और लाभान्वयन, आत्मीयता और प्रतिबद्धता के स्थान पर मूल्य बनकर उभरने लगे । राजकर्मचारी, वेतनभोगी वर्ग, उच्च पदों पर आसीन वर्ग आदि ने भी समय-समय पर अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए शासन यंत्र को पीछे की ओर घुमाया और प्रगति के पथ पर रोड़े अड़काए । भ्रष्ट राजनीतिज्ञों ने इस काम को और भी आसान बना दिया । किसी भी कार्य को जनहित की दृष्टि से समर्थन देने की बात व्यक्ति के मन में हमेशा के लिए उड़ गई और उसी के स्थान पर व्यक्ति का भौतिक लाभ प्रतिष्ठित होने लगा । वस्तुतः भौतिक लाभ की प्रतिष्ठा एक मूल्य के रूप में उभरने लगी और इसी का परिणाम सामाजिक कल्याण का करुणाजनक अंत था ।

उपर्युक्त स्थितियों में जो मूल्य भारतीय परिवेश में उभरने लगे, वे निषेधात्मक और नकारात्मक बोध को रूपायित करनेवाले रहे । ये मूल्य नई पीढी के रक्त में इस तरह समा जाए कि आधुनिक युवा वर्ग पुराने मूल्यों का नाम तक भूल बैठा । मूल्य की अवधारणा को परिवर्तित करनेवाली उपर्युक्त स्थितियाँ भारतीय जनमानस में मूल्य-परिवर्तन की अनिवार्यता के बीज बोने में समर्थ हुई । बीजों से जन्म लेनेवाले पौधे संक्रमण के वातावरण से होकर प्रतिष्ठा के चरण की प्रतीक्षा में अपनी शाखाएँ आज फैला रहे हैं ।

४. मूल्य और सामाजिक परिप्रेक्ष्य :-

सामाजिक चेतना मूल्यनिर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है । व्यक्ति के कार्यकलापों को दिशा देनेवाली बोधात्मकता है सामाजिक चेतना । सामाजिक व्यवस्था का ढाँचा इससे रूपायित होता है । सामाजिक चेतना से, सामाजिक मान्यताएँ, सिद्धांतों एवं धारणाएँ जन्म लेती है जिनके सारतत्व है "मूल्य" ।

सामाजिक संबंधों में और कार्य कलापों में आवश्यक बदलाव लाने में मूल्य सहायक होते हैं । व्यक्ति एवं समाज की हितकामना मूल्यनिर्माण का प्रमुख तत्व है । समाज में यानी सामाजिक मान्यताओं में बदलाव आने के साथ-हीं-साथ मूल्यों में भी बदलाव आते हैं ।

मूल्यनिर्माण प्रमुख रूप में नैतिकता पर आधारित होता है । अज्ञेय के शब्दों में "हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है ।"[1] मानव के विवेक पर आधारित बहुसम्मत धारणा जो समाज की स्थिरता के लिए आवश्यक अच्छाइयों का निर्धारण करती है, उसे हम **नैतिकता** मान सकते हैं । समाज की प्रचलित नैतिक व्यवस्था एवं मनुष्य की बदलती हुई मान्यताओं में टकराहट होती है । पुरानी पीढ़ी के लिए महत्वपूर्ण प्रचलित नैतिक व्यवस्था नई या आनेवाली पीढ़ी के लिए पूर्णतः स्वीकार्य नहीं होती । भारतीय साहित्य में नीतिशास्त्र का, धर्म और दर्शन से घनिष्ठ संबंध रहा है । डा. रामचन्द्र वर्मा ने "उस रीति को, जिस पर चलने से अपना कल्याण तो हो, पर दूसरे की हानि न हो "[2] नीति माना है । इस प्रकार के नैतिकता संबंधी विचारों में आनेवाले परिवर्तन के साथ नैतिक विचारधारा पर आधारित मूल्यसंबंधी मान्यताओं में भी परिवर्तन होता है । फ्रायड के मनोविज्ञान, डार्विन के विकासवाद, सार्त्र के अस्तित्ववाद तथा तर्कमूलक वस्तुवाद, असंगतिवाद, उपयोगितावाद इत्यादि के प्रभावों से नवीन प्रतिमान निर्मित हुए हैं । फलतः नैतिक व्यवस्था में जो तत्व पहले मान्य समझे जाते थे उनका अस्वीकार्य हो जाना पुराने मूल्यों के महत्व को भी नष्ट कर देता है । परिणामस्वरूप नई नैतिक व्यवस्था पर आधारित नए मूल्यों का आविर्भाव होता है । अर्थ, राजनीति आदि के क्षेत्र से संबंधित मूल्यों

---

1. हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य - सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय - पृ. 10
2. प्रामाणिक हिन्दी कोश - रामचन्द्र वर्मा - पृ. 711

को लेकर देखे तो यह बात स्पष्ट परिलक्षित होने लगती है । समाज के नैतिक व्यवस्था में आनेवाले बदलाव के साथ राजनैतिक या आर्थिक क्षेत्र में भी नहीं पारिवारिक संबंधों या व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधों में भी परिवर्तन आते हैं । अतः समाज की नैतिक व्यवस्था का मूल्यसंबंधी विचारधाराओं पर गहरा प्रभाव पडता है ।

नैतिकता संबंधी मान्यताओं में जब परिवर्तन आता है तब मूल्यसंबंधी विचारधाराओं में भी बदलाव आता है । सी.ए.एलोवुड़ के अनुसार "समाजशास्त्र का कार्य वैज्ञानिक नीतिशास्त्र को आधार प्रदान करना है और दूसरी ओर नीतिशास्त्र का कार्य उन नैतिक मान्यताओं को ग्रहण करना है जो मानव-समाज का वैज्ञानिक ज्ञान प्रस्तुत करता है और उन्हें विकसित करता है । उनकी आलोचना करता है और उनमें समन्वय स्थापित करता है ।"[1] नैतिक मान्यताओं में आनेवाले परिवर्तन से समाज में अचानक एक अराजकता की स्थिति पैदा होने लगती है । प्रत्येक समाज अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही मूल्यों का निर्माण करता है । पुराने ज़माने में समाज तद्युगीन आवश्यकताओं के अनुसार ईश्वर को महत्व देनेवाली नैतिक व्यवस्था एवं उससे संबंधित मूल्यों का निर्माण और पालन करता रहा । बाद के समय में ईश्वर पर होनेवाली आस्था के कारण पुरुषार्थों को "मूल्य" के रूप में बढ़ावा देते हुए ईश्वर प्राप्ति का प्रयत्न समाज करता रहा । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक विचारधाराओं में आए हुए बदलाव के परिणामस्वरूप नैतिकता की संकल्पना में भी परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा । फलतः वैदिक काल एवं मध्यकाल की आध्यात्मिक चेतना के स्थान पर उपयोगितावादी चेतना का उदय होता है । इस परिवर्तन के कारण अलौकिकता के स्थान पर लौकिकता तथा आदर्श के स्थान पर यथार्थ को महत्व प्राप्त होने लगा ।

---

1. "It is the business of sociology to furnish a foundation for scientific ethics to take the ethical implication which a scientific knowledge of human society affords, develop them, criticize and harmonize them" (Basic of Ethics, C.A.Allowed, P. 136.)

यहाँ से नैतिक मूल्यों के स्थान पर व्यावहारिक मूल्य प्रतिष्ठित होने लगते हैं ।

व्यावहारिकता को बढ़ावा मिलने के कारण स्वार्थदृष्टि का विकास हुआ और अनेक प्रकार के स्वार्थों की आपसी टकराहट के कारण अराजकता का धीरे से जन्म होने लगा । धार्मिकता, आदर्श, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता को तुच्छ माना गया और स्वार्थसिद्धि के लिए धर्म और मज़हब बेचे जाने लगे । संबंधों में ढीलापन, स्वार्थ से उत्पन्न राजनीतिक भ्रष्टाचार, सांप्रदायिकता, भाई-भतीजावाद आदि के प्रभाव से व्यक्ति अंदर से टूटने लगा । खण्डित व्यक्तित्व का विकास, एकांगी दृष्टिकोण आदि इसके परिणाम है । अनास्था, निरर्थकता एवं विसंगति इस स्थिति में समाज में जन्म देते हैं । नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि ने एकाकार होकर समाज के सामने नई समस्याओं को प्रस्तुत किया । समाज में इस प्रकार की अराजकता के फैलने के फलस्वरूप मूल्य संबंधी मान्यताएँ भी परिवर्तित होती गयी । इस बिन्दु पर भ्रष्टाचार, शोषण, चालबाज़ी, धाँधली आदि तत्व स्वार्थसिद्धि में सहायक होने के कारण स्वीकार्य मूल्य बनते गये ।

यहाँ से मूल्य संक्रमण की स्थिति का प्रारंभ होता है, जहाँ एक ओर पुराने आदर्श मूल्य तिरस्कृत होने लगते हैं और नए मूल्यों का चयन होने लगता है ।

5. आदर्श नैतिकता का निराकरण और अराजकता का जन्म :-

भारतीय सामाजिक जीवन के विकास और उसमें मूल्यों का स्थान जब विचारने होता है तब एक बहुत ही धुँधला चित्र उभरने लगता है । इस धुँधलकी में आदर्श मूल्यों का विलुप्त चित्र और नई नैतिकता का अस्पष्ट चित्र जन्म लेते हैं । हज़ारों वर्षों से जिस आदर्श नैतिकता को भारत में स्थान मिला था उसके तिरोहित

होने की स्थिति में आ जाना सामाजिक संकट का सूचक है । समय की आवश्यकता के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की माँग के अनुसार सामाजिक मान्यताओं को नया रूप देना एक आवश्यक मज़बूरी है । इस मज़बूरी के सामने देश अपने आदर्शों को छोड़े बिना नहीं रह सकता था । क्योंकि आज का सामाजिक जीवन राष्ट्र की सीमा रेखाओं से मात्र नहीं विश्व भर की आर्थिक, राजनीतिक और यांत्रिक दबावों से जुडकर ही चलता है । ऐसी स्थिति में भारत की पुरानी संस्कृति और मूल्य, नैतिक विश्वास और आदर्श परिवर्तित हुए बिना नहीं रह सकते । परिवर्तन की इस महज़ ज़रूरत को भारतीय राजनीति ने अपनी भ्रष्टता से अत्यधिक कालुष्यमय बना दिया । बाहरी प्रभाव और आन्तरिक दबावों ने मूल्यपरिवर्तन की स्थितियों को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में बहुत ही आवश्यक सिद्ध कर दिया । पिछले तीस वर्षों में भारतीय सामाजिक जीवन में मूल्यसंबंधी शून्यत्व की स्थिति इसी कारण उभरकर आई है । एक ओर पुराने मूल्य नकारे जाने लगे तो दूसरी ओर नए मूल्य प्रतिष्ठित न हो पाए । ऐसी संक्रमण की स्थिति में अराजकता का जन्म लेना और नए मूल्य प्रयोगों को प्रश्रय मिलना एक स्वाभाविक परिणाम है । इन में से कितने मूल्य, कालजयी बनकर रहेंगे और कितने समय की धार से आहत होकर मिट जाएँगे यह अभी नहीं कहा जा सकता ।

जो भी हो पिछले दो दशकों में राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं समूचे सामाजिक क्षेत्र में, शिक्षा के क्षेत्र में, अर्थ और उद्योग के क्षेत्र में एक तरह की अव्यवस्था छाई हुई दिखाई पड़ती है । नैतिक दृष्टि से देखा जाय तो यह अव्यवस्था अराजकता का ही परिणाम है । प्रादेशिक, भाषिक, क्षेत्रीय सीमा रेखाओं से ऊपर उठकर धर्म और जाति के बन्धनों से मुक्त होकर देश कल्याण की चेतना को आत्मसात करनेवाले नेतावर्ग, साहित्यकार, सामाजिक कार्यकर्ता, दार्शनिक, चिन्तक व्यक्तियों का अभाव इस अराजकता को और भी गहरा बना देता है । अराजकता की इस स्थिति में दिशाहीन होकर खून-खराबा, आतंक, हत्या, बलात्कार, गुण्डागर्दी आदि का सहारा लेता हुआ एक वर्ग उभरने लगा है जो यह दिखाना चाहता है कि शक्ति ही प्रभुता है और प्रभुता ही जीत है । जीवन में सफलता के लिए शक्ति का खुलकर प्रयोग और

उसके बल पर अर्थ और प्रभुता की प्राप्ति एक प्रमुख तत्व बनकर उभरने लगा है । यह अराजकता की चरम नीति की घोषणा करता है । सारी व्यवस्था, सत्ता, कानून और न्याय की अवहेलना करनेवाला यह सिद्धांत आतंकवाद से जुडकर विघटनात्मक और विस्फोटनात्मक मूल्यों को प्रतिष्ठित कर रहा है ।

उधर मूल्यों की अवधारणा में आए हुए परिवर्तन को स्वीकारने में सामाजिक चेतना भी अपनी हिचक छोड बैठी है । उपयोगितामूलक नीतियों का चयन और आतंकवादी गतिविधियों की जीत और उसकी छाया में पनपनेवाले अपराधों का क्षेत्र समाज के आम लोगों के बीच में यह भ्रम पैदा कर गया है कि यही सही रास्ता है । आज का आदमी ज़्यादा दिन तक जीना नहीं चाहता, चाहे ज़िन्दगी कम समय का हो खुशियों से भरपूर हो जाय । इसके लिए जिन तरीकों को अपनाना है उन सबको अपनाने के लिए वह तैयार रहता है जहाँ मूल्य और ईश्वर उसके लिए कोई रूकावट नहीं प्रस्तुत करते । आतंक को पनपानेवाली इस अराजकतावादी मूल्यदृष्टि ने भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग को किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित किया है । एक तरह से अराजकतावादी दर्शन का और मूल्यनीति का प्रारंभ इस आतंकवादी गतिविधियों से जुडता है जिसका राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय आधार भी ढूँढा जा सकता है । क्योंकि आतंकवाद और अराजकतावाद विश्व भर की मूल्यनीति के अंग बन चुके हैं ।

6. भारतीय जनमानस पर अराजकतावादी मूल्यनीति का प्रभाव :-

जैसे कि पहले सूचित किया जा चुका है "मूल्य" व्यक्ति, समाज और व्यवस्था के बीच संबंध बनाए रखनेवाला तत्व है । इन तीनों में से किसी एक के भी प्रति यदि संबंधनिषेध होता है तो मूल्य अपनी असली बोधवत्ता खो बैठता है । व्यवस्था का हनन, अराजकता को जन्म देता है । अराजकता का परिणाम आतंक को उभारता है । आज़ादी के बाद की स्थितियों ने भारतीय जनमानस पर

अधिकतर निराशा, मोहभंग और कुण्ठा को जन्म दिया था । निराशा की सीमा रेखाएँ राजनैतिक भ्रष्टता से जुडकर अलगाववाद को जन्म दे गई । इसके परिणामस्वरूप पंजाब, असम और कश्मीर की अलगाववादी स्थितियाँ मज़बूत होती गई । सीमित शक्ति रखते हुए भी युवावर्ग के एक विभाग ने आतंक का प्रश्रय लिया और इन्हीं राज्यों में अराजकता का राजनीतिक बीजारोपण हुआ । धीरे-धीरे इसका विकास होता गया । दक्षिण में तमिलनाडु और श्रीलंका तक अराजकतावाद पनपता रहा । इसी के फलस्वरूप इंदिरा गाँधी और राजीव गाँधी की हत्याएँ आयोजित की गई । इन दोनों घटनाओं से देश को जो धक्का पहुँचा वह अराजकतावाद की विभीषिका को एक ओर स्पष्ट कर गया तो दूसरी ओर सत्ता की निष्क्रियता और जनजीवन की असुरक्षा का भी बोध कराने में समर्थ रहा ।

अराजकता और आतंक सनातन मूल्यों की श्मशान भूमि से उगनेवाले कैक्टस हैं जिनका देखते-ही-देखते सभी क्षेत्रों में विस्तार होने लगता है । ऊपर चर्चित सभी राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं का अंत अत्यन्त भयानक होता रहा है । वैसे देखा जाय तो मूल्य नामक तत्व के प्रति भारतीय समाज में निषेध का भाव यहाँ से जन्म लेने लगता है । प्रयोजनमूलक सिद्धि, स्वार्थ, अर्थ की प्राप्ति, पदोन्नति की प्राप्ति आदि ने संपूर्ण भारतीयता को कलुषित किया है । परिणामस्वरूप देश की मानसिकता अत्यंत कुण्ठित बन गई है ।

पारिवारिक विघटन की स्थितियाँ :-

अराजकतावाद से जन्मी मूल्यच्युति की स्थितियाँ समाज के सभी धरातलों को प्रभावित करने लगती है । परिवार पर इस अराजकता ने कटु प्रहार किया है । स्वार्थनीति के आधार पर अर्थ लोलुपता को नींव बनाकर संबंधों का विभाजन यहाँ से स्वीकार्य होने लगता है । माता-पिता, भाई-बहन आदि के बीच के

रिश्ते अर्थ के आधार पर स्वार्थ के परिणामों पर केंद्रित होकर उलझने लगते हैं । रिश्ते-नातों का परंपरागत आधार अब समाप्त होता दिखाई पड़ने लगता है । भौतिकतावादी चेतना ने पति-पत्नी के संबंधों को भी अजनबीपन से भर दिया है । जहाँ पति, जन्म-जन्मांतर तक पत्नी का सहारा था वहाँ एक ही जन्म में पत्नी का दुश्मन बन जाता है । पति और पत्नी के बीच तीसरे का आगमन पत्नी के सती-साध्वी के रूप को नकारता है । पत्नी भी अपनी कमाई के आधार पर पति पर शासन करने का उपक्रम बनाती है । पति और पत्नी के बीच विश्वास और नैतिकबोध के जो संबंध थे वह अब नहीं रहे । दैहिक इच्छा की पूर्ति के लिए मंगलसूत्र अब बाधक नहीं रहा । परिणाम यह हुआ कि पारिवारिक संबंध नाम के वास्ते मात्र रह गए । बच्चों के प्रति दायित्व को भी निभाना कोई महत्वपूर्ण बात आज मानी नहीं जाती ।

जहाँ पारिवारिक संबंध मूल्यविघटन के आधार पर जड़वत् बन जाते हैं वहाँ व्यक्ति को व्यक्ति से जोडनेवाला संबंध भी शिथिल बन जाता है । अपने ही बंद कमरे में रहकर दूसरे की खुशी से और उन्नति से ईर्ष्या करते हुए उसके पतन की कामना करना नगरजीवन का एक अनिवार्य पहलू माना जाता है । शहर में एकदम उठनेवाली आकाशगामी इमारतें व्यक्ति को पिंजरों में कैद करने के लिए सहायक बनती जा रही है । घोंसलों से उड़नेवाली चिडियाँ आसपास के घोंसलों से रिश्ता नहीं स्थापित कर पाती । सामूहिक जीवन का ह्रास इस आत्मकेन्द्रित निषेध और अराजकता की सीमारेखा पर आकर बहुत ही खतरनाक साबित होने लगता है ।

सामाजिकता का तिरस्कार :-

मूल्यच्युति से उत्पन्न अराजकता ने व्यक्ति के मन को आहत कर दिया और उसकी सामाजिकता को नष्ट करने का कार्य किया । सामाजिक जीव के रूप में जनसमुदाय के बीच जीने की दृष्टि का ह्रास और आपसी मेल-मिलाप से दिल के

बोझ को मिटाने की संभावना का नाश, दोनों एक साथ होने लगे । अविश्वास और सन्देह के कारण व्यक्ति अपनी बातों को अपने से ही छिपाकर रखना उचित समझता गया । अकेलापन और संत्रास की सृष्टि ने इस मानसिक अवस्था के विकास में सशक्त भूमिका अदा की है । स्थिति को आगे बढावा देते हुए मानसिक रूग्णता और असंतुलन व्यक्ति को मूल्यों के प्रति बिलकुल अचेत बना गए । व्यक्तिसत्य की खोज में निकल पडनेवाला आदमी समाजसत्य का निषेध करता हुआ जीवन की विडंबनात्मक स्थितियों का सामना करने में असमर्थता का अनुभव करने लगता है । इस बिन्दु पर व्यक्ति की सामाजिकता का अभाव और समाज का व्यक्ति के प्रति दुराव दोनों इस अराजक मनः स्थिति के दो पहलु बनकर जीवन को झकझोर करने लगते हैं । ये स्थितियाँ भारतीय समाज को प्रभावित करनेवाली अराजकता की संहारात्मक प्रक्रियाएँ मानी जा सकती हैं ।

7. मूल्यपरिवर्तन की दिशाएँ :-

सामाजिक स्थितियों में होनेवाले परिवर्तन के साथ-ही-साथ मूल्यों में परिवर्तन होता है । डा. रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार "बदले हुए सामाजिक संबंधों के फलस्वरूप जब विराट जनता में नये जीवन मान और जीवनादर्शों को स्थापित करने की उद्विग्नता होती है और जब उन्हीं के प्रतिनिधि स्वरूप मानवतावादी, दार्शनिक, कलाकार, धर्मगुरु या अन्वेषक समाज में उपेक्षित अथवा नये तत्वों की ओर ध्यान देते हैं और मानव समाज की आवश्यकताओं को समझते हैं तो नये मूल्यों की सृष्टि होती है ।"

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में मूल्यपरिवर्तन की स्थितियाँ बहुमुखी दिशाओं की ओर प्रयाण करती दिखाई पडती है । इसलिए मूल्यों में आए हुए

---

1. सौंदर्य मूल्य और मूल्यांकन - डा. रमेशकुन्तल मेघ - पृ. 38

परिवर्तन को स्वीकारने में अधिक कठिनाई समाज महसूस नहीं करता । धीरे - धीरे समाज में जड़ें जमानेवाली मूल्यपरिवर्तन की बोधात्मकता, किन-किन कारणों से जन्मी गई है इस पर विचार करना समाजशास्त्रियों का काम है । फिर भी मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की अन्दरूनी स्थितियाँ इसके लिए उचित वातावरण की सृष्टि कर रही थी । राजनीति, अर्थ, स्वार्थ और जीवन संघर्ष की जटिलता, ईश्वर पर अविश्वास, आस्थाहीनता का विकास, अविश्वास का पनपना, आत्मकेन्द्रित जीवनदृष्टि, नकारात्मक और निषेधात्मक जीवनबोध और अकेलेपन की मानसिकता, आत्मनिर्वासन का बोझ, खण्डित व्यक्तित्व का शाप आदि कुछ ऐसे अन्दरूनी इकाइयाँ हैं जिन्होंने भारतीय मूल्यों को परिवर्तित होने के लिए बाध्य किया है ।

नई दिशाएँ परंपरागत मूल्यों का निषेध करती हुई उनकी श्मशान भूमि से गुज़रती है । वास्तव में परंपरा के मूल्यों का निषेध करना, परंपरा और संस्कृति का निषेध करना है । दूसरे शब्दों में सदियों से इकट्ठा की गई नैतिक अवधारणाओं को, धार्मिक विश्वासों को, सांस्कृतिक परंपराओं को निषेध करना है । इसलिए आधुनिक मूल्य-दिशाबोध परंपरा से कटा हुआ है, अपने में जटिल है और नई धरती की तलाश करता है अपनी जड़ें जमाने के लिए ।

नए मूल्य इसी नई धरती से रूपायित होते हैं । उनके रूपायन के लिए जो उर्वरता की ज़रूरत है वह भौतिक आधारों पर बंटी हुई धरती से प्राप्त होने लगती है । भौतिकता एक ऐसा सत्य है जो सच्चाई को अपनी इर्द-गिर्द की स्थूल स्थितियों से जोडकर मानव के अस्तित्व को बिलकुल स्थानीय रूप में देखना चाहता है । ये स्थान और काल स्थूल सत्य है और इनसे उपजनेवाली सुख, समृद्धि और जीवन की उर्वरता अनिषेध्य वस्तु है जिसको वायवी नहीं कहा जा सकता ।

इस कारण प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, संघर्ष में, आगे की यात्रा में वे सारे भौतिक साधन और बन्धन उभरकर आते हैं जिनका निषेध आध्यात्मिक दृष्टि कर सकती है, परंतु लौकिक दृष्टि नहीं । अतः प्रत्येक क्षण में होनेवाला संघर्ष, प्रत्येक परिस्थिति को संजोनेवाला आर्थिक वैधानिक संकट एक सत्य बनकर परंपरा के मूल्यों का निषेध करने के लिए उसको बाध्य करता है । इस बाध्यता से रूपायित होनेवाले तथ्य परिस्थितिजन्य स्थितियों से समझौता करते हुए व्यक्ति की आत्मवत्ता को और उसकी भौतिक लाभान्विति को प्रमुखता प्रदान करते है और अपनी सुविधा के अनुसार मूल्यों के रूप में परिवर्तित होते हैं । अस्तू, मूल्यों के रूपायन को किसी नियमबद्धता से जोड़ा नहीं जा सकता । आज सुविधाजनक लगनेवाले मूल्य, कल की विशेष परिस्थिति में असुविधाजनक होकर च्युत मूल्य बन सकते हैं । क्योंकि आज की स्थितियाँ कल की स्थितियों से भिन्न हैं । इस तरह मूल्य समयसापेक्ष होकर नई दिशाओं की खोज में लगे रहते हैं ।

समसामयिक भारतीय परिस्थितियों में यही कहा जा सकता है कि "मूल्य" एक बदलती मानसिक प्रक्रिया के संतत सहचारी अंग है, जिनके रंग-रूप और दिशा समाजजन्य परिस्थितियों से सक्रियता धारण करते हुए अलग-अलग धरातलों पर खड़े होते हैं । इन में से अपनी सुविधा के अनुकूल किसी-न-किसी मूल्य का वरण करने के लिए आदमी स्वतंत्र होता है । जब अधिक-से-अधिक लोग एक निश्चित परिस्थिति में एक जैसी प्रतिक्रिया का वरण करती है और उसी के चयन पर जीवन की सफलता प्राप्त करते हैं तो वह विकल्प एक सफल मूल्य का रूप धारण कर लेता है जिसका निषेध समसामयिक समाज, राजनीति, धर्मनीति और अर्थनीति नहीं कर पाती । क्योंकि यह विकल्प उन्हीं की ही दी गई स्थितियों का परिणाम है ।

8. मूल्य और लेखन की प्रक्रिया :-

प्रत्येक साहित्यकार समसामयिक समाज की जीवंतता की तस्वीर को उभारकर रखता है । लेखक के सामने वह समाज होता है जो साहित्येतर स्थितियों से रूपायित होता है और सजीव समस्याओं का स्वरूप प्रस्तुत करता है । किसी भी कालखण्ड में अस्तित्व के संघर्ष को झेलनेवाला समाज, उसी कालखण्ड की परिप्रेक्ष्यजन्य सुविधाओं से और दुविधाओं से प्रभावित रहता है । सुविधा इस बात की होती है कि वैज्ञानिक विकास, आर्थिक उन्नति और सामाजिक सुरक्षा मानव को झेलनेवाला समाज, उसी कालखण्ड की परिप्रेक्ष्यजन्य सुविधाओं से और दुविधाओं से प्रभावित रहता है । सुविधा इस बात की होती है कि वैज्ञानिक विकास, आर्थिक उन्नति और सामाजिक सुरक्षा मानव को शांतिजनक जीवन का स्वप्न दिखलाती है और दुविधा इस बात की है कि यह स्वप्न कभी साकार नहीं हो पाता और इस मरीचिका के भ्रम में पडकर जीवन अधिक दुःखमय होने लगता है । आशाओं, आकांक्षाओं और निराशाओं के बीच से गुज़रनेवाले समाज के बीच जीते-जीते लेखक अपने चारों तरफ़ की ज़िन्दगी को लेखनी से बहा देना चाहता है । ऐसी स्थिति में प्रतिबद्धता की होते या न होते हुए भी लेखक को समसामयिक सच्चाई का रूपांकन करना ही पडता है । डा. रामगोपालसिंह चौहान के अनुसार "हर नए युग में जीवन-मूल्य अपना नया संस्कार करते हैं - यही उनका कल्प है, अपने इस नए संस्कार में उनका पुराना रूप नया बनता है । इस रूप में मानव संस्कार पुराने के प्रवाह-क्रम का ही अगला विकास होते हैं । जीवन मूल्यों के इस नए संस्कार और कल्प की गति को साहित्यकार उस समय तक अपने साहित्य में मूर्तिमत्ता नहीं दे सकता जब तक कि उसे युग की विचारधाराओं, जीवन-दर्शन और जीवन के विकास के लक्ष्य और उसकी गति का ज्ञान न हो ।"[1]

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास - डा. रामगोपाल सिंह चौहान - पृ. 34

अभिव्यक्ति की सक्रियता की तलाश करनेवाला लेखक कई मंजिलों से गुज़रता है और कई अनुभवों से अपने को सशक्त बनाता है । इन्हीं अनुभवों के बीच "मूल्य" और "मूल्यच्युति" के अनोखे आयाम उसकी तस्वीर को अधिक रंगीन बना देते है । लेखक जिन दृश्यों को प्रस्तुत करता है, वे दृश्य समाज की समसामयिकता से उभरते हैं और उनकी जीवंतता उस समाज में विद्यमान मूल्यबोध की आत्मवत्ता से जुडती है । इस कारण मूल्यबोध से और मूल्यबोध के अभाव से लेखक को गुज़रना पडता है । अनुभवों की मौलिकता की तलाश में, व्यक्तियों की अस्मिता को ढूँढने की प्रक्रिया में समाज की संघर्षमयी स्थितियों से जूझने की कोशिश में लेखक की आँखों के सामने यह स्पष्ट होने लगता है कि उसके पात्र कल की ज़िन्दगी जीनेवालों से भिन्न अवधारणा लेकर प्रस्तुत हो रहे हैं । यह भिन्न अवधारणा क्यों, कब और कैसे जन्म ले गई, इसका अन्वेषण करते समय लेखक को मूल्य के बदलाव के पडाव पर आकर रुकना पडता है । उसे पता चलता है कि कल आज नहीं है और आनेवाला कल आज से भिन्न होगा । तेज़ रफ्तार से गुज़रती हुई ज़िन्दगी में आनेवाले परिवर्तन व्यक्तिसत्य की विवशता को पूर्ण रूप से उसकी परिस्थितियों के साथ जोडकर देखने के लिए मज़बूर है । इसलिए परिवर्तन एक सत्य है जो मूल्य के बदलाव को स्वीकारता हुआ प्रत्येक कालखण्ड को आगामी कालखण्ड से अलग कर देता है ।

संक्षेप में साहित्यकार अपनी लेखनी के माध्यम से समाज में आनेवाले मूल्यबोध के परिवर्तन को पात्र, परिस्थितियाँ और अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत करता है और यह सिद्ध करता है कि, समाज मूल्यों को स्वीकारने में और नकारने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र है । इस स्वतंत्रता का समर्थन लेखक को अवश्य करना है । क्योंकि, इसके अभाव में पात्र संकल्पना, कथ्यात्मकता और लेखन की जीवतंता बनी नहीं रह सकती ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होने लगता है कि "मूल्य" और मूल्यसंबंधी अवधारणा कई सूक्ष्म और स्थूल तथ्यों से प्रेरणा और दिशा ग्रहण करती हुई विशेष विकल्पों के आधार पर व्यक्ति और समाज के परिप्रेक्ष्य में रूपायित होती है । नैतिक आकलन की सीमाबद्धता से मुक्त होकर परंपरा और संस्कृति की लक्ष्मण रेखाओं को पार कर मूल्यगत अवधारणा समय सापेक्षिकता से जुडकर अपना स्वरूप प्रकट करती है । परंपरागत मान्यताएँ और पूर्वमान्य स्थितियाँ मूल्य के बदलनेवाले रूप को स्थिर नहीं कर सकती । भारतीय परिप्रेक्ष्य में मूल्यों की अवधारणा पर किए जानेवाले अध्ययन से यह स्पष्ट होने लगता है कि स्वातंत्र्योत्तरकालीन स्थितियाँ समूचे देश की मूल्यवत्ता को परिवर्तित कर गई है । इस उपक्रम में नैतिक जीवनबोध ही नहीं उपयोगितावादी दृष्टि ने भी सनातन मूल्यों को अप्रासंगिक बना दिया है । धीरे-धीरे समाज में जन्म लेनेवाली भौतिक लाभ से संचालित दृष्टि ने मूल्यक्षेत्र में शून्यत्वबोध की सृष्टि कर अराजकता को जन्म देने के साथ-साथ व्यवस्था का टूटकर बिखर जाना जहाँ एक ओर अराजकता की सृष्टि कर गया है, वहाँ आतंकवाद को भी उसने जन्म दिया है । आतंकवाद, नैतिक निषेध का और मानवीय अधिकारों का हनन करता हुआ अपनी लक्ष्यप्राप्ति में समाज को ध्वस्त करना उचित मानकर चलता है । आतंकवाद की नीति ने समूचे मूल्यों को अस्तित्वहीन कर दिया है । पिछले दो दशकों में आई हुई मूल्यच्युति के प्रहार ने व्यक्ति की मानसिकता को भ्रमित कर दिया है । इस भ्रम की गहराई में गोता लगाता हुआ व्यक्ति मूल्यनिषेध की सीमा पर पहुँच कर समाज से कटकर अपने आप में अजनबी बन गया है । ऐसे अजनबियों का समाज मूल्यगत दिग्भ्रम का शिकार हुए बिना नहीं रह सकता । समूची रचनात्मक प्रक्रिया और लेखन के विविध रंग इस भ्रमात्मकता की चपेटों में आकर दिशाहीन होने लगे हैं । साहित्यिक क्षेत्र में इस रचनात्मकता ने ऐसी विडंबनात्मक स्थितियों को जन्म दिया है जिनके सामने सारे हल अधूरे दिखाई पडते हैं ।

कई दृष्टियों से मूल्यसंतुलन के प्रयास लेखकीय प्रतिबद्धता के दायरों के बाहर खडे होने लगते हैं । क्योंकि अप्रासंगिक मूल्यों की अवधारणात्मक पाबन्दियों को स्वीकार कर समसामयिक समाज और उसी के अंदर एक इकाई बनकर रहनेवाला व्यक्ति आगे का सफर तय नहीं कर पाता । इस विशिष्ट परिवेशजन्य बोधात्मक स्थिति में मूल्य स्वयं प्रश्नचिह्न बन जाते हैं जिनका जवाब ढूँढने के लिए व्यक्ति को फिर से यह कहना पडता है कि "मूल्य" व्यक्तिसत्य के स्थूल पक्ष को नहीं, परंतु उसके सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं के अनदेखे पक्ष पर ही आधारित हो सकते हैं । इस तरह जन्म लेनेवाली मूल्यवत्ता न नैतिकता से बन्धित हो सकती है और न धर्म की पाबन्दियों से बान्धी जा सकती है, न सामाजिक चेतना की कल्याणकारी आदर्शवादिता से स्निग्ध बनाई जा सकती है, न ही कोई कालखण्ड उसको अपनी सीमाओं में बाँध कर रख सकता है ।

दूसरा अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध और प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास

स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध और प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास

किसी भी देश के मूल्यबोध को रूपायित करनेवाले तत्वों में देश की परंपरा, संस्कृति, धर्म, नैतिकता आदि के साथ-साथ समाजपरकता और समयबद्धता भी अपनी मूल्यवान भूमिका अदा करती है । वस्तुतः मूल्य की अवधारणा परंपरागत मात्र न होकर समय की आवश्यकताओं के साथ काल के परिवर्तनों की माँगों को भी अपने अन्दर समेटकर चलती है । भारतीय जनजीवन की आकांक्षाओं को इतिहास के साथ जोडकर देखते समय पता चलता है कि आज़ादी के प्राप्ति के बाद मूल्यबोध की अवधारणा काफी सीमा तक परिवर्तित हो गई है । क्योंकि आज़ादी की प्राप्ति एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना है जिसने देश की समूची ज़िन्दगी को, विश्वास और नीतियों को परिवर्तित किया है । अतः स्वातंत्र्योत्तरकालीन मूल्यदृष्टि पूर्ववर्ती दृष्टियों से भिन्नता अपनाती हुई अलग से आयामित होती है ।

स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध :-

स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध को आयामित करनेवाले तत्वों के जन्म की पृष्ठभूमि, एक ओर राष्ट्रप्रेम से जुडती है तो दूसरी ओर देश विभाजन की विभीषिका और आगे की राजनीतिक भ्रष्टता से भी प्रभावित होती हैं । आज़ादी के प्रभात में विभाजन की काली छाया ने जनमानस को आतंकित तो अवश्य किया उसी के साथ-साथ आस्था और परंपरागत मान्यताओं को भी विचलित कर दिया । आज़ादी के सुनहरे स्वप्नों को

संजोनेवाली आँखों के सामने अंधकार फैला और निराशा और मोहभंग की स्थितियाँ जन्म ले गई । कुर्सी और सत्ता के खेल ने राजनीति में हर चीज़ को वैध स्वीकारा और इस स्वीकार से जन्मी हुई अनैतिकता ने सांप्रदायिकता, भाई-भतीजावाद, दलबन्दी और घूसखोरी का प्रश्रय लेकर पुराने मूल्यबोध को धक्का देकर गिरा दिया ।

इन स्थितियों में सामाजिक प्रतिक्रिया विशेष रूप से अपनी आन्तरिक स्थितियों का आकलन करने लगी । समाज के बहुसंख्यक लोगों ने प्रतिक्रियारहित होकर चुप्पी साधी तो दूसरे विभाग ने परिवर्तित मूल्यबोध से प्रभावित होकर स्वार्थ और अर्थ की पूजा को जीवन का परम ध्येय स्वीकारा । रचना प्रक्रिया का आधार इस स्वीकार और निषेध के दर्मयान होता है । और इस कारण मूल्यबोध का साहित्यिक अंकन विशिष्ट भूमिका की सृष्टि करता है । जो भी हो स्वातंत्र्योत्तर काल की परिवेशजन्य स्थितियाँ यह सिद्ध करती हैं कि स्वातंत्र्योत्तर मूल्य और उनको रूपायित करनेवाला बोध दोनों मूल रूप में परिवर्तित हो रहे थे, इस परिवर्तन के आयामों को राजनीति, सामाजिकता, व्यक्तिचेतना और अराजकता के आयामों से जोडकर रचना प्रक्रिया जारी रही और इसी का अध्ययन मूल्यबोध को समझने के लिए अत्यन्त सहायक होता है ।

इस प्रकार रूपायित होनेवाले मूल्यबोध की अंतश्चेतना ने साहित्यिक रचना-धर्मिता की अंतरात्मा को भी बडी सीमा तक प्रभावित किया है । और इस प्रभाव को अनुभूत करते हुए लेखकों ने समसामयिक जीवन

को अनेक कोणों से देखने का प्रयास किया है । स्वातंत्र्योत्तर कालीन लेखकीय दृष्टि को आंकने की कोशिश करते समय यह स्पष्ट होता है कि पिछले पाँच दशकों में जहाँ एक ओर मोहभंग, निराशा, कुण्ठा, आत्मनिर्वासन आदि से जुडी हुई दृष्टि प्रमुख होती है तो सत्तर के बाद की रचनाओं में सर्जना के आयाम अधिक प्रतिबद्धात्मक और दायित्वपूर्ण बनकर उभरते हैं । आज़ादी के प्रभात में अचानक महसूस किये जानेवाले मूल्यच्युति के धक्के ने साहित्यकार को चौंका दिया था । पिछले दो दशकों की रचनाओं से यह स्पष्ट होने लगता है कि अचानक होने वाले प्रहार से मुक्त होकर धीरे-धीरे वह संतुलित स्थिति की ओर आ गया है । जहाँ उसने मूल्यबोध के परिवर्तन को स्वीकारा है इस स्वीकार ने जिस रचनात्मक दृष्टि को जन्म दिया है वह दृष्टि समसामयिक जीवन को, मूल्यसंक्रमण की स्थिति के साथ जोडकर देखने में सफल हुई है । इस कारण निश्चित स्थितिबोध के अन्दर जीते हुए, परिवेशजन्य स्थितियों को स्वीकारते हुए प्रतिबद्धात्मक आकलन के लिए लेखक एक सीमा तक वचनबद्ध हो जाता है ।

वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में जन्म लेनेवाली लेखकीय दृष्टि की अन्दरूनी जटिलताएँ समाजपरक संकीर्णताओं से जुडती हुई विकसित होती है । वस्तुतः लेखकीय दृष्टि अधिक जीवंत, निर्माणपरक और वस्तुनिष्ठ होने लगती है । पचास से लेकर सत्तर तक की स्थितियों में जो अविश्वसनीयता, वैयक्तिकता, आत्मभोग के अनुभव, अजनबीपन और गतिरोध था, वह सत्तर के बाद की रचनाओं में और लेखकीय दृष्टि में दिखाई नहीं पडता । स्वस्थ परंपरा की तलाश, सामाजिक स्थितिबोध के बीच उभरती हुई व्यक्ति की आस्मिता की तलाश, मानवीय पक्षों से

जुडती हुई जीवन की संकीर्णताओं की खोज और समसामयिक जीवनबोध की विसंगतियाँ आदि सब समसामयिक रचनाधर्मिता को प्रभावित ही नहीं, अपितु प्रचलित भी करती हैं ।

अब प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि क्या लेखकीय दृष्टि को भारतीयेतर परिस्थितियों ने प्रभावित किया है या नहीं ? यह देखा जाता है कि विश्व के किसी भी कोने में जन्म लेनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियाँ दूसरे देश के साहित्यकार को भी प्रभावित करती है । हिन्दी साहित्यकारों की लेखन दृष्टि में आनेवाली एकाध प्रवृत्तियों का संबंध कुछ आलोचक पाश्चात्य साहित्यिक प्रवृत्तियों से जोडकर देखना चाहते हैं । अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव और नारी आन्दोलन से जनित मुक्तिभावना इन में से प्रमुख चर्चा के विषय बनते हैं । कुछ लोगों के अनुसार अविश्वास, कुण्ठा, संत्रास जैसी प्रवृत्तियाँ हिन्दी उपन्यासों में अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव के कारण जन्मी है । स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों की प्रवृत्तियों के अध्ययन से पता चलता है कि उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है । कुण्ठाग्रस्त मनोवृत्ति और त्रासयुक्त दृष्टि एक सीमा तक आयातित अवश्य है । परन्तु वे अस्तित्ववादी प्रभाव के ही परिणाम है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । वैसा अस्तित्ववादी प्रभाव को दिखानेवाली औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ "वे दिन"; "अपने-अपने अजनबी" जैसी रचनाओं को छोडकर कम ही दिखाई पडती हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि अस्तित्ववाद की आयातित विचारधारा का प्रणयन और समर्थन यहाँ के उपन्यासकारों ने कम किया है । एक सशक्त प्रवृत्ति के रूप में अस्तित्ववादी चेतना का प्रयोग हिन्दी उपन्यासों में नहीं हुआ है । रही संत्रास और कुण्ठा की बात । इसके संबंध में यह कहा जा सकता है कि अचानक होनेवाली

परिवर्तन की स्थितियों ने, अर्थ के दबाव ने, परिवार के विघटन ने, नगरों के विकास ने, ग्रामों के ह्रास ने आम आदमी पर जो दबाव डाला और उसको जिस तरह से दबोचा उसी के परिणामस्वरूप कुण्ठा, त्रास और अलगाव की भावनाएँ जन्म ले गई । ये अलगाव पूर्णतया भारतीय परिवेश में जन्म ले गया था । और दस, बीस वर्षों के बाद भारतीय परिवेश में ही यह अलगाव, त्रास, कुण्ठा और लघुमानवत्व का बोध नष्ट भी हो गया । क्योंकि ऐसी रचनाओं को स्वीकारने के लिए भारतीय मन तैयार नहीं था ।

उधर पाश्चात्य देशों में होनेवाले नारी आन्दोलनों का भारतीय लेखकों की दृष्टि पर प्रभाव पडा है या नहीं यह भी विवादास्पद है । नारी आन्दोलनों का सामाजिक क्षेत्र में जितना प्रभाव पडा है उतना तो साहित्यिक क्षेत्र में नहीं दिखाई पडता । नारी जागरण के परिणामस्वरूप देश में उत्तर से दक्षिण तक नारी की आज़ादी की जो लहर प्रवाहमान हुई उससे एक सीमा तक हिन्दी लेखिकाओं ने प्रभाव ग्रहण किया है । जिस ढंग से और जिस शैली का अनुसरण करते हुए नारी लेखिकाओं ने जिस कथ्यात्मकता का विकास किया वह एक बडी सीमा तक अस्वाभाविकता का शिकार बना हुआ है । नारी की स्वतंत्रता की ओर उसकी मुक्ति को एक चुनौती के रूप में स्वीकारना लेखिकाओं की दिशा दृष्टि के अभाव की सूचना देता है । कहीं-कहीं नारी मुक्ति की संभावनाएँ सेक्स की अतिरंजनाओं के बीच और अस्वाभाविक पहेलियों के बीच दब जाती है । उषा प्रियंवदा की रचना "रुकोगी नहीं राधिका" कृष्णा सोबती की रचना "सूरजमुखी अंधेरे के", मृदुला गर्ग की "चित्तकोबरा" आदि नारी की जज़्बाती ज़रूरतों की अतिरंजित

स्थितियों की प्रस्तुति करनेवाली रचनाएँ बन जाती है । यहाँ नारी आन्दोलन और स्त्री की आज़ादी की समस्या यथार्थ बोध की सीमाओं से बाहर निकलकर पहेलियों के रूप में प्रस्तुत होती है, जिनका जवाब स्वयं लेखिकायें भी नहीं दे पातीं ।

इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि आजादी के बाद की रचनाओं में खासकर साठोत्तरी रचनाओं में नारी की अस्मिता की तलाश एक प्रमुख मुद्दा बनकर उभरती है । परंपरागत नारी से संबंधित अवधारणाएँ पुरुष लेखकों की रचनाओं में भी परिवर्तित होती दिखाई पडती है । स्त्री के प्रति अधिक उदार और सचेत दृष्टिकोण को अपनाने के लिए आज का लेखक बाध्य सा हो गया है । यह लेखक की विशेषता नहीं है । परन्तु समय की आवश्यकता है । वैसे भारतीय परिवेश में भी नारी की आधुनिक भूमिका बदली हुई लगती है । वह पुरुष के समान हर क्षेत्र में अपने अस्तित्व का एहसास कराती है । किसी अनदेखे पुरुष के लिए अपने यौवन को अपनी आकांक्षाओं को आशाओं की हवन कुण्ठ में जला देनेवाली आदर्श रूपसीयों की कहानी आज के साहित्य में नहीं दिखाई पडती है । पति के अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाली, आवश्यकता पडने पर विवाहेतर संबन्ध भी जोडनेवाली, विवाह को एक अटूट बन्धन न माननेवाली, परंपरा के नियमों को बदलने का आह्वान करनेवाली नायिकाओं की कमी आज के उपन्यासों में नहीं है । नारी आन्दोलन का यदि इसे प्रभाव न भी माने, तो यह कहना ही पडेगा कि नारी शिक्षा और उसके स्वतंत्र अस्तित्व की माँग देश भर के परिवर्तन का परिणाम है । यदि इसे नारी जागृति से जोडकर कोई देखना चाहता है तो इसके लिए भी इसमें संभावनाएँ है ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर काल में दिखाई पडनेवाली नारी स्वतंत्रता की भावना विदेशी नहीं, स्वदेशी है । हो सकता है कि इसकी मूलप्रेरणा विदेश से आई हुई हो ।

स्वातंत्र्योत्तरकालीन मूल्यबोध के अध्ययन को विविध आयामों से जोडकर देखना अत्यंत आवश्यक है । इसलिए स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध के अध्ययन को राजनीतिक बोध, सामाजिक बोध आदि से जोडकर देखने का प्रयास एक ओर किया है तो दूसरी ओर व्यक्तिबोध, अस्मिता की तलाश, और अराजकता के संदर्भों से भी जोडकर देखने की कोशिश की है । उपर्युक्त शीर्षकों के अन्दर, अलग अलग उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया को परखने का और उनके अन्दर प्रकट होनेवाली विशिष्ट भूमिकाओं की तलाश करने का प्रयास अपने में महत्व रखता है ।

राजनीतिक बोध

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के राजनैतिक क्षेत्र में कई प्रकार के बदलाव आए हैं । वैसे राजनीति या सत्ता के हस्तान्तरण को लेकर भारतीय जनता के मन में कई प्रकार की आशाएँ बनी हुई थी । व्यावहारिक रूप में जो परिणाम निकले वे निराशाजनक थे । सभी स्वप्नों को नष्ट करते हुए अंग्रेज़ों के स्थान पर भारतीय भ्रष्टाचारी नेता आसीन हुए । उपर्युक्त कारणों से शहरों तथा गाँवों के राजनैतिक बोध में जो बदलाव आए उनकी सफल और यथार्थ अभिव्यक्ति उसी काल में रचे गए

उपन्यासों में दिखाई पड़ती है । जनता के मोहभंग एवं स्वप्नभंग से उत्पन्न स्थितियाँ एवं राजनीति को हथियानेवाले भ्रष्टाचारी वर्ग की धाँधली के बहुआयामी रूप को उभारने में उपन्यासकार एक हदतक सफल हुए हैं । राजनैतिक मूल्यों का पतन, स्वार्थपरक प्रवृत्ति, प्रशासन में भ्रष्टाचार, घूसखोरी, सरकारी खजाने का दुरूपयोग आदि जो कुछ भी राजनीति के क्षेत्र में हुए उन सब की सफल अभिव्यक्ति देनेवाले उपन्यासों में है - राजेन्द्र यादव का "उखड़े हुए लोग", नरेश मेहता का "यह पथ बन्धु था", श्रीलाल शुक्ल का "राग दरबारी", एवं मन्नू भण्डारी का "महाभोज" ।

उखड़े हुए लोग (1956)

राजेन्द्र यादव ने "उखड़े हुए लोग" में स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद रूपायित होनेवाले राजनैतिक बोध के असली स्वरूप को देशबन्धु नामक राजनैतिक नेता और उनसे संबंधित व्यक्तियों एवं घटनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । सत्ता और प्रभुता राजनैतिक धाँधली को छिपाती है और हर बात बहुत ही खूबसूरत दिखाई पड़ती है । इसका प्रमाण देनेवाला पात्र है "उखड़े हुए लोग" का देशबन्धु । देशबन्धु के संपर्क में आनेवाले व्यक्तियों को वह एक उदार, समाजसेवी, हँसमुख, मिलनसार, विनम्र, निरभिमानी एवं धर्मात्मा व्यक्ति लगता है । किन्तु वह धूर्त, शोषक पूँजीपति, भ्रष्टाचारी एवं स्वार्थी है । अपनी मीठी बोली एवं आकर्षक व्यवहार से लोगों को फँसाकर उनका शोषण करने में वह सिद्धहस्त हैं ।

समाज को सक्रिय रूप से बदलने के लिए निकल पडनेवाले शरद और जया देशबन्धु के चंगुल में फँस जाते हैं । उन लोगों के अनुभवों के माध्यम से बदले हुए राजनैतिक बोध का स्वरूप उभरता है । राजनैतिक नेता किस प्रकार सत्ता के बल पर दूसरों का शोषण करते रहते हैं इसका यथार्थ चित्रण इसमें हुआ है । बिगुल के कार्यालय में काम करते हुए देशबन्धु के शिकार बन जानेवाले सूरज के माध्यम से प्रतिभा के शोषण का पक्ष प्रस्तुत हुआ है । देशबन्धु अपने लिए लेखन और भाषण तैयार करने का काम शरद को ही सौंपता है, वह भी बिना वेतन के । अपने शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने की क्षमता प्रकट करनेवालों को देशबन्धु वहाँ से निकाल देता है । देशबन्धु के पुत्र के मिल के मज़दूरों के पक्ष में आवाज़ उठाने के कारण "बिगुल" का संपादक सूरज बरखास्त किया जाता है ।

सत्ता को हथियानेवाले राजनीतिज्ञ का असली स्वरूप उभारनेवाले कई प्रसंगों का उद्घाटन भी हुआ है इस उपन्यास में । सरदार पटेल की मृत्यु की खबर सुनने पर भी शराब की बोतलों से अपने नशे को बढ़ाने में और अपनी वासना को पद्मा पर चढ़ाने में देशबन्धु संलग्न रहता है । राष्ट्रप्रेमी कहलानेवाले व्यक्ति का असली रूप यहाँ प्रकट होता है । एक ओर समाज के उद्धार का भाषण देनेवाला देशबन्धु असल में मज़दूरों से बिना वेतन काम करवाने का उपक्रम मन-ही-मन बना लेता है । मिल की दुर्घटना में मारे जानेवाले मज़दूर के लिए मगरमच्छ के आँसू बहानेवाला देशबन्धु असल में उसके परिवार के लिए कुछ भी नहीं करता ।

राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं सामाजिक क्षेत्र में भी वह शोषण का जाल फैलाता रहता है । मायादेवी के साथ प्रेम का ढोंग रचकर उसे धोखा देता है । यह बात मायादेवी के इन शब्दों में व्यक्त होती है - "कोई बात नहीं, मैं ने तुम से प्रेम किया है - तुम्हारी आत्मा और गुणों से प्रेम किया है । तुम विवाहित हो यह बात बता देते तो अच्छा था और जब नहीं बताया तो खैर कोई बात नहीं ।"[1] समाजसेवा, शिक्षा का प्रसार, आदि महान लक्ष्यों की बात प्रस्तुत कर अपने व्यक्तित्व को महत्तर दिखानेवाला देशबन्धु असल में शिक्षा संस्था के माध्यम से औरतों को फँसाने का जाल ही फैलाता है । कॉलेज के प्रिंसिपल को रखैल बनाकर अपनी वासना की पूर्ति करनेवाले देशबन्धु के कमीनेपन का एक और अड्डा है "होटल डी पैरिस" ।

"नेता भैया" के सुन्दर मुखौटे के पीछे जो ढोंगी, पाखंण्डी, व्यभिचारी एवं शोषक का रूप है, उसे उपन्यासकार भली भाँति अभिव्यक्त करते हैं । देशबन्धु जनता के "नेता भैया" बनकर पूँजीवादी व्यवस्था के सभी सुविधाएँ, जनसेवा के नाम पर भोगता है और खादी के परिधान की आड़ में विलास और चरित्रहीनता का जीवन जीता है ।

सूरज का शोषण, शरद का शोषण, मायादेवी की तबाही, पद्मा की आत्महत्या, पद्मा के पिता की हत्या, मिल के मज़दूरों पर गोली चलाना, बिगुल को हड़पना, प्रिंसिपल को रखैल बनाना, होटल में आनेवाली

---

1. उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 392.

लड़कियों का नाजायज़ फायदा उठाना, यहाँ तक कि अपनी बहू के साथ अभव्य व्यवहार करना, उन अनदेखी कहानियों की रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करते हैं, जिनका कभी भी पर्दाफाश नहीं होता । "नेता भैया" का मायादेवी को "बहन" कहना और ज़रूरत पडने पर दिल का दौरा पड़ना, शरद को तनख्वाह के लिए बात करने का अवसर न देना, महात्माओं के नाम को अपनी ज़िन्दगी से जोडना और डायरियों के पन्नों को झूठ-मूठ से सजाना, राजनीतिक चाल के कुछ उदाहरण हैं । इसको समझने के बाद शरद का यह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है - "देशबन्धुजी की हर बात के पीछे एक घनीभूत स्वार्थ, एक व्यक्तिगत दृष्टिकोण, एक प्रतिक्रिया का प्रतिकार है ।"[1]

आज के नेता वर्ग में बहुसंख्यक लोग देशबन्धु के वंशज हैं और उसी परंपरा को अक्षुण्ण बनाए रखने के प्रयास में मूल्यहीनता की साधना में लगे हुए हैं । इस प्रकार राजनीतिक बोध का जो स्वरूप "उखड़े हुए लोग" में उभरता है, वह मूल्यच्युति के या मूल्यपरिवर्तन के प्रारंभिक पक्ष के पहलुओं को प्रस्तुत कर भारतीय राजनेताओं के काले करतूतों का प्रथम अध्याय लिखता है ।

यह पथ बन्धु था (1962)

राजनैतिक बोध के दो अलग से परिदृश्यों को कालखण्ड की सीमाओं से बाँधकर पाठकीय संवेदना को उजागर करनेवाला उपन्यास है "यह पथ बन्धु था" । नरेश मेहता ने आदर्श भारतीय स्वतंत्रता सेनानी

---

1. उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 315

की द्विविधाजनक जीवन परिणति का और उसकी पराजय कथा का अनावरण इसमें किया है । श्रीधर बाबू यौवन के जोश में आकर स्वतंत्रता की आन्तरिक प्रेरणा से अभिभूत होकर नौकरी छोडकर संग्राम में शरीक होता है । आदर्शों पर अडिग रहने के कारण श्रीधर बाबू अपनी लिखी हुई इतिहास की पुस्तक में परिवर्तन लाने के लिए तैयार नहीं होता है और नौकरी छोडकर घर से चला जाता है । राजनीति के क्षेत्र में वह प्रवेश करता है । यहाँ से, उपन्यास में राजनीतिक और सामाजिक विकृतियों का स्पष्ट रूप उभरने लगता है ।

राजनैतिक नेता के असली स्वरूप को ठाकुर सकलदीप नारायण सिंह प्रस्तुत करता है, जिसके अनुकूल बनना श्रीधर के लिए असंभव था । "वह अपनी ज़मींन्दारी में ज़ोर जुल्म करवाते रहते थे, गुण्डे पालते थे अपने प्रतिद्वन्द्वी को मार्ग से हटाने के लिए गुप्तचर रखते थे, मौका लगते ही उन्हें जेल भिजवा सकते थे या इस दुनिया से भी हटा सकते थे ।"[1] राजनीतिक नेता का पत्रकारिता पर भी कितना बुरा प्रभाव है इसका सशक्त प्रमाण श्रीधर को सकलदीप नारायण सिंह की जेल यात्रा के विवरण से स्पष्ट हो जाता है, जो "स्वतंत्र ज्योति" साप्ताहिक में प्रति सप्ताह निकलते रहते थे ।

परिवार को त्यागकर भी संग्राम के क्षेत्र में देशप्रेम की सार्थकता ढूँढता रहता है श्रीधर । परंतु ऐसी स्थिति में, उसकी क्षमता और

---

1. हिन्दी उपन्यास महाकाव्य के स्वर - डॉ. शाँतिस्वरूप गुप्त - पृ. 158

त्याग की भावना दोनों वाँछित परिणाम के काबिल नहीं होते । क्योंकि, आधंत वह शोषण का शिकार बन जाता है । नेतागिरी की प्रथम पंक्ति में आगे पहुँचने में वह पिछड़ जाता है । एक बार पिछड़ जाता है तो हमेशा के लिए वह पिछडता ही रहता है ।

राजनीति के क्षेत्र की असलियत पहचानने पर श्रीधर के विचार बदली हुई राजनीतिक स्थितियों में साधारण जनता की स्थिति को उजागर करते हैं । "श्रीधर बाबू पिछले दिनों से मन ही मन स्वयं से बडे असंतुष्ट थे । उन्हें अपना प्रयोजन ही समझ में नहीं आ रहा था कि उन्होंने क्यों कस्बे की नौकरी छोडी और जब छोडी थी तो क्या इसी निरूद्देश्यता के लिए ? आज वे जो कुछ कर रहे हैं, जहाँ हैं क्या इसी के लिए वे अपना घर, सरो, बच्चे, माता-पिता को रातों-रात छोड़ आये ? पिछले चार-पाँच महीनों के राजनीतिक संपर्क में यह बात तो उन्हें स्पष्ट हो गयी थी कि राजनीति उनका क्षेत्र नहीं ।"[1]

राजनीति के संग्राम में कुछ दिनों तक भाग लेने के बाद श्रीधर बाबू को पता चलता है कि इस क्षेत्र में शोषण ही शोषण है । पत्रकारिता के माध्यम से संग्राम को नई प्राणवत्ता प्रदान करने के विचार का उसी दम अपहरण होता है । राजनीतिक साप्ताहिक निकालने के लिए प्रेरणा देनेवालों में प्रमुख ठाकुर की जेल से छूटने पर जो प्रतिक्रिया होती है उससे श्रीधर चकित

---

1. यह पथ बन्धु था - नरेश मेहता - पृ. 277

हो जाता है । "जिन ठाकुर सकलदीप नारायण सिंह से श्रीधर बाबू को पूरी आशा थी कि वे दो-चार हज़ार रूपये इस राष्ट्रीय कार्यक्रम में लगाने में नहीं हिचकेंगे, क्योंकि जिनकी इतनी बड़ी ज़मीन्दारी थी, काशी में अनेक मकान थे, उन्होंने पूरे छह महीने तक योजना अपने पास रखने के बाद कहा कि देखिए उनके छोटे भाई वंशदीप नारायण सिंह भी एक राष्ट्रीय साप्ताहिक निकालने जा रहे हैं और वे नहीं चाहते कि, राष्ट्रीय पत्रों में आपस में संघर्ष हो इसलिए अच्छा हो कि श्रीधर बाबू उनके छोटे भाई के पत्र में ही आ जाएँ ।"[1] इसके बाद जब श्रीधर रामखेलावन के "शंखनाद" में काम करने लगता है, तब ठाकुर उसके पीछे गुण्डे भेजता है । "उन्होंने वहीं छुपे अनुभव किया कि उनके पीछे ठाकुर सकलदीप नारायण सिंह ने गुण्डे छोड़ रखे हैं । मौका भी अच्छा चुना था कि बात फैल जाएगी कि दंगों में किसी ने मार दिया ।"[2]

इसप्रकार अपने अनुभवों के आधार पर श्रीधर बाबू को पता चलता है कि राजनीति और पत्रकारिता की दुनिया अब उन लोगों के हाथ में कैद है, जिनके पास धन है और पाशविक शक्ति है । इसका सामना करने में श्रीधर नितांत असफल है । वर्षों के बाद जब उस संग्राम के मैदान से वह लौटता है तब वह न नेता ही रहता है न देशभक्त । क्योंकि देशभक्ति को नापने के तरीके तब तक बदल गए होते हैं । परिवार के लोगों के लिए भी वह अजनबी सा लगता है । पत्नी की मृत्यु, बेटी का तलाकशुदा

---

1. यह पथ बन्धु था - नरेश मेहता - पृ. 49।
2. यह पथ बन्धु था - नरेश मेहता - पृ. 54।

होकर पंगु हो जाना आदि कुछ ऐसे हादसे है, जिनको बर्दाश्त करना किसी भी व्यक्ति के लिए नामुमकिन है ।

"यह पथ बन्धु था" उस पराजित कथा का अंकन करता है, जहाँ श्रीधर बाबू के समान हज़ारों लोग बेघरबार होकर, तबाह होकर रह गए, उनकी सेवा त्याग और आत्मदान का कोई अर्थ नहीं रहा । इन अनाम स्वतंत्रता सेनानियों की कथा के अन्दर भारतीय आज़ादी के संग्राम की अमानवीय और अपराधयुक्त मनोवृत्तियों की अनकही कहानियाँ छिपी पडी है ।

राग दरबारी (1968)

श्रीलाल शुक्ल ने भारत के एक गाँव शिवपालगंज को लेकर तटस्थ दृष्टिकोण से गाँव की बदलती हुई जीवन स्थितियों, उनके नये स्वरूप एवं नई चेतना को - जिसके सामने पुराने मूल्य, संबंधों की आत्मीयता या मानवीयता का कोई महत्व ही नहीं है, सुन्दर, व्यंग्य शैली के सहारे प्रस्तुत किया है "राग दरबारी" में । स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद स्वदेशी सामंतों का उदय हुआ और उनके दरबारी परोपजीवी लोग भी उभर कर आए, उनके दरबार की और दरबारी राग आलापों की कहानी है इस उपन्यास में । व्यंग्य के सहारे उपन्यासकार भ्रष्ट राजनीतिक नेताओं के कुकृत्यों का एवं उनके दरबारी लोगों के अत्याचारपूर्ण व्यवहारों का यथार्थ चित्र दर्शाता है ।

"राग दरबारी" के कथ्य के संबंध में डॉ. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर का कथन है "शिवपालगंज राजनीति के बलात्कार से कलंकित हुआ है और उसकी कलंक गाथा ही "राग दरबारी" का कथ्य है ।"[1] "राग दरबारी" में गाँव की पृष्ठभूमि में धन और प्रभुता के बल पर भ्रष्टता को जन्म देनेवाले वैद्यजी जैसे राजनीतिक नेता का चित्रण हुआ है, जो अशिक्षित होकर भी शिक्षा को खरीदते हैं, बेचते है और उसकी चोर बाज़ारी करते हैं । काले धन्धे का प्रभाव शिक्षा पर भी काली छाया छोडता है और मुनाफा कमाना उनका लक्ष्य होता है । वैद्य के दरबारी प्रिंसिपल के बारे में यह कथन ध्यान देने योग्य है "दूर-दूर के इलाकों में अपने गुणों के लिए विख्यात थे । एक तो खर्च का फर्जी नक्शा बनाकर कॉलिज के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा सरकारी पैसा खींचने के लिए, दूसरे गुस्से की चरम दशा में स्थानीय अवधी बोली का इस्तेमाल करने के लिए ।"[2] शिक्षा को वे एक कारोबार समझते हैं । देश भर में होनेवाली शिक्षा की कारोबारी का पूर्णस्वरूप "राग दरबारी" में मिलता है । सरकारी दफ्तरों में जो गबन होता है उसका और उससे सम्बन्धित भ्रष्टता का नमूना सहकारी संघ में मिलता है । तीसरी बात यह है कि पंचायत राज और नगरपालिकाओं में, जहाँ राजनेता स्वयं नहीं प्रवेश कर पाता "अपने आदमियों" के बल पर काम चलाता है । गुण्डागर्दी की ज़रूरत पडे तो उसका भी इस्तेमाल होता है । आज की राजनीति में और उसके बोध को रूपायित करनेवाली दृष्टि में प्रमुख रूप से उभरनेवाले तत्व हैं - धन, प्रभुता, गुण्डागर्दी, आतंक और अपराध की दृष्टि । सत्य-निषेध, आदर्शों के खण्डहर से प्रयोजनमूलक दृष्टि का जन्म, धर्म संप्रदाय,

---

1. उपन्यास स्थिति और गति - डा. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर - पृ. 285
2. राग दरबारी - श्रीलाल शुक्ल - पृ. 26

जातिवाद और भाई-भतीजावाद आदि का उदय इस पृष्ठभूमि में राजनैतिक बोध को रूपायित करता है । रंगनाथ से रूप्पन का कथन इस बात को स्पष्ट कर देनेवाला है "देखो दादा, यह तो पोलिटिक्स है । इसमें बडा बडा कमीनापन चलता है । यह तो कुछ भी नहीं हुआ । पिताजी जिस रास्ते में है उसमें इससे भी आगे कुछ करना पडता है । दुश्मन को जैसे भी हो, चित करना चाहिए । यह न चित कर पाएँगे तो खुद चित हो जाएँगे और फिर बैठे चूरन की पुड़िया बाँधा करेंगे और कोई टका को भी न पूछेगा ।"[1]

श्रीलाल शुक्ल ने वैद्यजी और सनीचर जैसे लोगों के माध्यम से सत्ता के खेल के अनोखे पक्ष को प्रस्तुत किया है । प्रिंसिपल एक अनाम व्यक्ति है, जिसका कोई व्यक्तित्व ही नहीं होता और वह सिर्फ वैद्य के हाथ का एक खिलौना मात्र है । संघर्ष करने की थोड़ी बहुत हिम्मत वैद्य का पुत्र रूप्पन दिखाता है और रंगनाथ जैसे युवक दब्बू बनकर रह जाते हैं । संघर्ष करने की इच्छा उस में है । लेकिन भारत की नौजवान पीढ़ी के समान उसकी क्षमता उसमें नहीं है । "राग दरबारी" इसी खेल को प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास है । डा. सुरेश सिन्हा का वक्तव्य ध्यान देने योग्य है "इसमें कोई सन्देह नहीं कि, यह उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर काल के अच्छे-बुरे परिवर्तनों का लेखा-जोखा सफलता के साथ प्रस्तुत कर सका है । आज का राजनीतिक एवं नैतिक अवमूल्यन, घूसखोरी, भ्रष्टाचार और स्वार्थपरकता, भाई-भतीजावाद गबन और मूल्यों का संक्रमण सभी कुछ इसमें मिल जाता है ।"[2]

---

1. राग दरबारी - श्रीलाल शुक्ल - पृ. 100
2. हिन्दी उपन्यास - डा. सुरेश सिन्हा - पृ. 369

महाभोज (1979)

"महाभोज" राजनैतिक मूल्यबोध के एक दूसरे पक्ष को उभारनेवाला उपन्यास है, जिसमें हरिजनों के ज़िन्दगी के आहत पक्ष उभर कर आते हैं । समसामयिक राजनीति की कुचक्रों का और उसमें खेले जानेवाले खेलों का ऐसा दस्तावेज़ है यह उपन्यास, जिसमें आदमी की कीमत सिर्फ वोटों तक ही सीमित हो जाती है । हरिजन बस्ती में आग लगाकर उसी के आधार पर सहानुभूति प्राप्त कर, सहानुभूति को वोटों में परिवर्तित करनेवाले सत्ताधारी राजनीतिज्ञ दासाहब और उसके प्रतिद्वन्द्वी मुकुलबाबू की अनोखी कारवाइयाँ प्रजातंत्र से व्यक्ति का विश्वास उखाड़ देनेवाली हैं । दाँवपेंच, भ्रष्टाचार, गुण्डागर्दी, आगजनी, सत्ता द्वारा विरोधों का दमन, आदि पक्षों को सशक्तता से उभारकर मन्नू भण्डारी ने समसामयिक राजनीति पर हावी होनेवाली विषाक्त स्थितियों का पर्दाफाश किया है । "कोई भी सर्जनात्मक कृति अपने संसार में ऐसे रूपों का निर्माण करती है जो आपको संसार की सच्चाईयों से अवगत करा सके और संवेदना पर चोट करती हुई समझ पर भी दस्तक दे । मन्नू भण्डारी का उपन्यास "महाभोज" ये दोनों काम करता है ।"[1]

एक गाँव में होनेवाली घटनाओं का चुनाव के समय किस प्रकार राजनीति से संबंधित व्यक्ति फायदा उठाता है, इसका दृष्टांत है सरोहा गाँव में होनेवाली हरिजन टोली में आगजनी एवं बिसू की मौत ।

---

1. राजनीतिक कार्यवाहियों का औपन्यासिक संघटन - महाभोज - विनय, आजकल - अक्तूबर 1980 - पृ. 22

आगजनी की घटना के बाद क्या-क्या प्रतिक्रिया हुई यह ध्यान देने योग्य बात है । "नेताओं ने गीली आँखों और रूँधे हुए गले से क्षोभ प्रकट किया और बडे-बड़े आश्वासन दिये । अखबारनवीस आये तो दनादन उस राख के ढेर का ही फोटो खींचकर ले गये । दूसरे दिन अखबार में छापकर घर-घर पहुँचा भी दिया - इस घटना का सचित्र ब्यौरा ।"[1] और बिसू की मौत भी एक महान घटना बन जाती है । "सीट केवल एक, पर पूरे मंत्रिमण्डल के लिए जैसे एकदम निर्णायक । यही कारण है कि आज हर घटना को इस सीट से जोडकर ही देखा - परखा जा रहा है । वरना और दिन होते तो क्या बिसू और क्या बिसू की मौत ।"[2] मुख्यमंत्री दासाहब के दल के लिए भी नहीं विपक्षी नेता के लिए भी बिसू की मौत एक महान घटना बन जाती है । "सुकुल बाबू के अनुसार "बिसू की मौत.... लगता है जैसे थाली में परोस कर मौका आ गया है उनके सामने । अपनी हार को जीत में बदलना है उन्हें इस मौके का फायदा उठाकर ।"[3]

स्वार्थपरता के इस खेल के बीच "महाभोज" का "बिन्दा" और "बिसू" और सक्सेना जैसे पात्र न्याय के लिए लडते रहते है । इस लडाई में साथ देने के लिए उन्हें शिक्षित या अशिक्षित व्यक्तियों का सहारा भी नहीं मिलता । सत्ता के बल पर राजनीतिज्ञ अपना चाल चलता ही रहता है । आगजनी एवं उसके विरोध में प्रमाण इकट्ठा करने वाले बिसू की

---

1. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 8
2. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 10
3. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 24

मौत के पीछे जोरावर है जिसका जीवन राजनैतिक नेता की छाया में पूर्णत: सुरक्षित है । चुनाव के समय भी उसका सहारा लेता ही रहता है मुख्यमंत्री दा साहब । पांडेय से जोरावर का कथन इस बात को स्पष्ट करनेवाला है - "तुम फिकर मत करो पांडेयजी, जोरावर के रहते । हमें मालूम हैं, सुकुल बाबू को वोट देनेवाले कौन हैं ? तुम क्या सोचते हो, हमारे रहते बूथ पर पहुँच पायेंगे वे लोग ? जोरावर के राज में वे ही वोट दे पायेंगे, जिन्हें जोरावर चाहेगा ।"[1]

राजनैतिक चालबाज़ी में साथ न देनेवालों को मुख्यमंत्री अपने मंत्रिमण्डल से बाहर कर देता है । न्यास के साथ देने के कारण लोचन को मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र देने के लिए मज़बूर होना पडता है । आज राजनीति का क्षेत्र कितना खतरनाक एवं भ्रष्टाचारपूर्ण बन गया है इसकी सशक्त अभिव्यक्ति लेखिका लोचन द्वारा देती है - "आज तो परिवर्तन का नाम लेनेवाले की आवाज़ घोंट दी जाती है - उसे काटकर फेंक दिया जाता है ।"[2] समाचार पत्र की आज़ादी पर ज़ोर देनेवाला राजनीतिक नेता वहाँ भी अपनी सत्ता का प्रभाव डालता ही रहता है । "मशाल" के संपादक दत्ताबाबू को न्याय का पक्ष लेने से रोकने में उसे कोई हिचक का अनुभव नहीं होता ।

राजनैतिक क्षेत्र में आए हुए बदलाव के परिणामस्वरूप अपराधी लोग कानून के आँखों से बच निकलते हैं । इस साजिश में

---

1. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 149
2. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 158

डी. आई. जी. सिन्हा जैसे अफ्सरों का छिपा हुआ हाथ है । "महाभोज" असल में बेकसूर, असहाय, शोषित, पीडित, दलित वर्ग के राजनैतिक शोषण की कहानी है । केवल व्यक्ति पर नहीं, समूह पर भी अत्याचार किया जाता है और उसके सदस्यों पर गीदड नुमा राजनीतिज्ञ माँस खाने की इच्छा से टूट पडते हैं और महाभोज का आयोजन करते हैं । लेखिका ने बडी तटस्थता के साथ इसका सशक्त विवरण प्रस्तुत किया है जोकि समूची भारतीय राजनीति के विकृत पक्ष का दस्तावेज़ बन गया है ।

आलोच्य उपन्यासों के कथ्य-के विवेचन से यह स्पष्ट होने लगता है कि राजनीतिक मूल्यबोध में बडी मात्रा में परिवर्तन हुआ है । आदर्शात्मक स्थितियों का जहाँ एक ओर अंत हुआ है तो दूसरी ओर उन्हीं के बीच से मूल्यसंबंधी विसंगतियाँ जन्म ले गई है । "उखडे हुए लोग", "यह पथ बन्धु था", "राग दरबारी" और "महाभोज" उन पक्षों का विवेचन करते हैं, जो राजनीतिक भ्रष्टता के अलग-अलग दायरों में विकसित हुए हैं । एक दृष्टि से इन चारों उपन्यासों के बीच मूल्य परिवर्तन के विकास की विविध दशाएँ विधमान होती है । आज़ादी की प्राप्ति के लिए आदर्श की जो ज़रूरत थी उसकी समाप्ति और समानांतर रूप से जन्म लेनेवाली स्वार्थ की भावना, शोषण के साथ जुडकर प्रथम दो उपन्यासों में राजनैतिक बोध के पक्ष को प्रस्तुत करती है । इन दोनों उपन्यासों का राजनीतिक बोध स्वतंत्रता-प्राप्ति के इर्द-गिर्द के कालखण्डों में रूपायित हुआ लगता है । जबकि "राग दरबारी" और "महाभोज" की विशिष्ट राजनीतिक स्थितियाँ स्वातंत्र्योत्तरकालीन परिवेश में जन्मी हुई नई स्थितियों से संबंध जोडती है ।

इस दृष्टि से इन दोनों उपन्यासों की बोधवत्ता अधिक समकालीन है । वैसे इन में जन्मी हुई राजनीतिक तिकडमबाज़ी और चालबाज़ी आठवें और नवें दशक की राजनीतिक चालबाज़ी की सशक्त अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती है । इससे यह आभासित होता है कि, राजनीतिक शैली में उसकी व्यावहारिकता को लेकर परिवर्तन का होना एक स्वाभाविक परिणाम है । शैलीगत अन्तर, प्रयोग की विशिष्टता को जन्म देता है जो समय सापेक्ष है । "उखडे हुए लोग" के देशबन्धु से लेकर "महाभोज" के दा साहब तक आते-आते राजनीतिक क्षेत्र के प्रयोग और उसकी अवधारणा इतनी परिवर्तित हो जाती है कि उनके बीच शैलीगत वैषम्य अधिक प्रकट होता है ।

लक्ष्य बोध में राजनीतिज्ञ सभी एक जैसे होते हैं । परंतु प्रयोग की शैली बदलती रहती है । स्थान, काल और परिस्थितियाँ राजनीति के व्यावहारिक अंशों पर अपना प्रभाव छोडती है । इसलिए "राग दरबारी" के वैद्य का शोषण, देशबन्धु की शोषण शैली से या "यह पथ बन्धु था" के ठाकुर सकलदीप नारायण सिंह की शैली से या "महाभोज" के दा साहब या सुकुल बाबू की शैली से भिन्न है । कालगत आवश्यकताएँ राजनेता को अपनी शैली बदलने के लिए मज़बूर करती है । फिर भी इन सारे कार्यक्रमों की अन्तर्धारा में राजनीतिक वक्रता की और टेढी चालों की गहरी छाप बनी रहती है ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि, स्वातंत्र्योत्तरकालीन राजनीतिक बोध का स्वरूप परिवर्तित होता रहा है । परिवर्तन का यद्यपि

बाहरी पक्ष अधिक स्पष्ट होता है, तो आन्तरिक स्वरूप अपनी चालबाज़ी में, लक्ष्य प्राप्ति में एक जैसा ही बना रहता है । दूसरे शब्दों में राजनेता का लक्ष्य सत्ता है और सत्ता को हथियाने के तंत्र बाहर से परिवर्तित लगने पर भी अंदर से सत्ता पर ही केन्द्रित रहते हैं ।

सामाजिक बोध

मूल्यबोध के परिवर्तित आयामों की गहराई में सामाजिक बोध की स्थितियों में आए हुए परिवर्तन स्पष्टतः लक्षित होते हैं । आलोच्यकाल में रचित उपन्यासों की अन्दरूनी धारा सामाजिक बोध के स्वरूप से इस तरह जुडकर चलती है कि रचना का सारा परिवेश सामाजिक बोध की झलक प्रस्तुत करने में सफल उतरता है । जीवन की परिवर्तित दृष्टि और सामाजिक प्रतिक्रिया कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिनको नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता । इस कारण आलोच्यकाल के उपन्यासों में सामाजिकता की बोधवत्ता प्रचुर मात्रा में प्रतिबिंबित होने लगती है । वस्तुतः उपन्यासों की रचना प्रक्रिया, स्वातंत्र्योत्तर समाज की, परिवर्तित सामाजिक बोध की सटीक अभिव्यंजना प्रस्तुत करती है । "अंधेरे बन्द कमरे", "आप का बंटी", "अलग अलग वैतरणी" कुछ ऐसे प्रतिनिधि उपन्यास हैं जिनमें स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध के सामाजिक पहलुओं का अंकन झलकता है ।

अंधेरे बन्द कमरे (1961)

"अंधेरे बन्द कमरे" वैसे तो शहर और उसके परिवेश के इर्द-गिर्द रूपायित होनेवाली कथ्यात्मकता का स्वरूप प्रस्तुत करता है ।

लेकिन गहराई में देखने पर पता चलता है कि शहर के बन्द मकानों के कमरों में काफी अन्धेरा बसा हुआ है जो कि पति-पत्नी के संबन्धों को और प्रेमी-प्रेमिकाओं के सम्बन्धों को ग्रस लेता है । नीलिमा और हरबंस पति-पत्नी बनकर जीवन का आरंभ करते हैं । धीरे-धीरे पत्नी की कलोपासना और उसकी लोकप्रियता से कुण्ठाग्रस्त पति जलने लगता है और अहं के मनोवृत्तियों का विकास दोनों के बीच होता है । "अंधेरे बन्द कमरे" के कथ्य पर प्रकाश डालते हैं डा. शरेश चन्द्र चुलकीमठ "राकेश ने महानगरीय जीवन को स्वयं भोगा था । उसमें घुटती, तड़पती आत्माओं की दारूण स्थिति के प्रत्यक्ष साक्षी वे रहे । प्रस्तुत उपन्यास में उसी परिवेश में प्राप्त जीवन के गहरे सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास उन्होंने किया है ।"[1]

पति-पत्नी के अलगाव की स्थितियाँ सामाजिक और वैयक्तिक धरातल पर बहुमुखी और अन्दरूनी संघर्ष को जन्म देती है । शहर की ज़िन्दगी के अनोखे पक्ष, अलगाव और फासलों को बढ़ा देते हैं । जिसमें स्पष्ट भूमिका अदा करते हुए ऊ - बा - नू और शुक्ला आते हैं । हरबंस में आधुनिक चेतना को स्वीकारने की इच्छा है, पर वह मध्ययुगीन सामंती सभ्यता से बुरी तरह ग्रसित है । वह नीलिमा को स्वतंत्र छोडने का बहाना बनाता है किन्तु उसके अहं का आदर नहीं कर सकता । पत्नी का दूसरों के साथ मिलना उसे कतई पसंद नहीं । इन बातों से वह कुढता ही रहता है । उसे लगता है कि "मैं वर्षों से अपने अन्दर तिल-मिल करके गल रहा हूँ, मुझे कई बार लगता है कि मेरे लिए एक ही उपाय है कि अपने जीवन का अंत

---

1. मोहन राकेश का कथा साहित्य समग्र मूल्यांकन - डा. शरेशचन्द्र चुलकीमठ- पृ. 90

कर दूँ ।"[1] नीलिमा का अपने स्वतंत्र हो जाना और अपने भविष्य का चयन करना स्त्री की आज़ादी की माँग को सामाजिक बोध से जोडनेवाले पक्ष है । पति और पत्नी का संघर्ष कई करवटें बदलता हुआ एक ऐसे कगार पर आकर समाप्त होता है, जहाँ तक दूसरे से अलग होकर रहना असंभव सा लगता है । हरबंस को लगता है "नीलिमा के साथ और नीलिमा के बिना, दोनों ही ज़िन्दगी मुझे असंभव प्रतीत होती है ।"[2] नीलिमा की स्थिति भी भिन्न नहीं । "मैं तुमसे अलग रहना चाहती थी, परंतु जब मैं हवाई जहाज़ में बैठी तो मुझे पता चला कि मैं तुम्हें छोडकर नहीं रह सकती ।"[3] मोहन राकेश के उपन्यासों के बारे में निम्नलिखित कथन इस बात का स्पष्टीकरण करता है । "मोहन राकेश के तीनों उपन्यासों "अंधेरे बन्द कमरे", "न आनेवाला कल" और "अन्तराल" में आधुनिक जीवन की विसंगतियों में संगति न ढूँढ पाने की विवशता है । "अंधेरे बन्द कमरे" में जीवन अपनी संस्कारबद्धता के कारण विवश है ।"[4]

सामाजिक बोध की सकारात्मक स्थितियों से उभरती हुई हरबंस और नीलिमा की ज़िन्दगी अंत में भारतीय परंपरा के अनुकूल रूप धारण करती है । यह उसका दायित्वपूर्ण पक्ष है । जबकि परिवेशजन्य स्थितियों में मारा मारा फिरनेवाला मधुसूदन सुषमा की बेवफाई से अव्यवस्थित

---

1. अंधेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 211
2. अंधेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 130
3. अंधेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 231
4. हिन्दी कथा साहित्य समकालीन सन्दर्भ - डा. ज्ञान आस्थाना - पृ. 90

हो जाता है और नए घोंसलों की तलाश करता है तो एक स्वाभाविक परिणाम मात्र है । "अंधेरे बन्द कमरे" का हर प्रमुख पात्र अपने-अपने अहं के घेरे में बंदी अपनी द्वन्द्वमय चेतना के अनुसार जो-जो क्रियाएँ करता है - इस उम्मीद के साथ करता है कि अन्य उसका समर्थन करेंगे ; और ऐसा न होने पर उसका अहं और अधिक उद्ग्र तथा उसकी चेतना और अधिक ग्रंथिमय हो जाती है तथा उसके व्यवहार या तो पूर्णत: कुंठित या आत्मपीडक या फिर आक्रामक (पर-पीड़क) हो उठते हैं ।[1]

श्रीकांत वर्मा को "अंधेरे बन्द कमरे" की सुषमा, आधुनिकता की सबसे अच्छा प्रतीक लगती है । आधुनिकता की चमक-दमक, आत्मकेन्द्रता, लस्ट और अकेलापन की मौजूदगी सुषमा की विशिष्टता है । श्रीकांत वर्मा के अनुसार "अंधेरे बन्द कमरे" की घटनाएँ सिनेमा की रील टूट जाने पर, पर्दे पर दिखायी जानेवाली स्लाइडों की तरह हैं । किन्तु कुछ बातों की मार्मिकता से पाठक प्रभावित होते हैं । "यह अवश्य है कि मधुसूदन के निजी जीवन के कुछ मार्मिक प्रसंग हैं - जहाँ वह रिपोर्टर नहीं हैं, कुतुब रोड से लौटनेवाला "सेक्स-स्टाड" नवयुवक है या ठकुराइन की ओर फिसल जानेवाला कमज़ोर मानव है । जेब में एक चवन्नी लिये, कुतुब रोड से लौटनेवाला व्यथा में डबडबाया हुआ मधुसूदन, सचमुच एक जीवित व्यक्ति है और उसके दर्द में एक आत्मीय संगीत है । ठकुराइन का मुख्य-कथा से कोई संबंध नहीं, मगर अपनी सजीवता के कारण उसने उपन्यास में अपनी एक जगह बना ली है । इस प्रकार के छोटे-छोटे कई खूबसूरत प्रसंग हैं, जिनसे उपन्यास स्थान-स्थान

---

1. कथाकृति - मोहन राकेश - ओम प्रभाकर - पृ. 140

पर संगीतमय हो उठा है ।[1]

कुल मिलाकर "अंधेरे बन्द कमरे" का सामाजिक बोध नगरीकरण की पृष्ठभूमि में, जीवन में आए हुए बदलाव को अपने अन्दर समेटकर चलता है । इसमें पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, कला और कलाकार की मनोवृत्ति अहंवादिता, आत्मसंघर्षों और आज़ादी की अभिवांछा सब अपनी-अपनी भूमिकाएँ अदा करते हुए "अन्धेरे बन्द कमरे" को एक सीमा तक गहरा कर देते हैं । मन के बन्द कमरों के खुल जाने पर सारा अन्धेरा एकदम मिट जाता है ।

अलग अलग वैतरणी (1967)

शिवप्रसाद सिंह ने करैता गाँव की ज़िन्दगी की विषावत्तता का आख्यान "अलग अलग वैतरणी" में प्रस्तुत किया है, जो एक सीमा तक असंभावनाओं से भी जुडता है । करैता गाँव की ज़िन्दगी अपने अलग से घेरे में अनेक विचित्रताओं को लेकर उभरती है । "इसमें करैता (उत्तर प्रदेश का एक गाँव) के माध्यम से स्वतंत्रता परवर्ती ग्राम-जीवन की अनेक समस्याओं, आपदाओं, प्रश्नों और संभावनाओं को एक यथार्थवादी दृष्टि से अंकित किया गया है ।"[2] राम नवमी के मेले पर शुरू होनेवाले उपन्यास में ग्राम जीवन में आए हुए सामाजिक बदलाव, परिवर्तित सांस्कृतिक प्रतिमान आदि की स्पष्ट झलक मिलती है ।

---

1. दूसरों का नरक - श्रीकांत वर्मा - विवेक के रंग - सं. देवीशंकर अवस्थी - पृ. 296
2. आँचलिक उपन्यास: संवेदना और शिल्प - डा. ज्ञानचन्द्र गुप्त - पृ. 81

ज़मींदारी - उन्मूलन के बाद करैता गाँव छोडकर जमींदार जैपालसिंह चला जाता है । अपनी बेटी के साथ किए जानेवाले दुर्व्यवहार के प्रति निम्नलिखित प्रतिक्रिया सामाजिक बोध में आए हुए बदलाव की सूचना देती है । "इज्ज़त तो सबकी एक ही है बाबू, चाहे चमार की हो चाहे ठाकुर की । हम आप का काम करते हैं, मज़दूरी लेते हैं । इसका मतलब थोडा हो गया कि हम आप के गुलाम हो गए ।"[1]

ज़मीन्दारी उन्मूलन से गाँव पूर्णतया ज़मीन्दारी से मुक्त नहीं होता । सुखदेव जैसे लोग नाम मात्र के प्रधान बन जाते हैं और गाँव की शासन व्यवस्था जमींदार पर ही निर्भर होती है । गाँव दिन प्रतिदिन टूटता रहता है । ठाकुर जैपाल सिंह ज़मीन्दारी उन्मूलन से टूटते हैं, सूरज सिंह पंचायती चुनाव की हार से टूटती हैं । जग्गन मिसिर भौजाई और गाँव के बदलते रंग से टूटती हैं । कनिया बुझारथ सिंह के अनैतिक व्यापारों से टूटती हैं ; खलील मियाँ अपनी ज़मीन जगेसर के बाप के द्वारा हथियाये जाने से टूटता है, देवनाथ अपने पिता के व्यवहार से टूटता है तो शशिकान्त गाँव की गुटबन्दी का शिकार बनकर टूटता है । विपिन इन सबके दुःख-दर्दों एवं ग्राम-जीवन की परिवर्तित मान्यताओं और टूटते आदर्शों के द्वन्द्व से टूटता है । "इसी टूटन और पराजय के कारण शशिकान्त, देवनाथ, खलील मियाँ, और विपिन गाँव छोड़कर चला जाता हैं । डा. सत्यदेव त्रिपाठी के अनुसार "अलग-अलग वैतरणी" करैता के माध्यम से भारतीय गाँव की पहचान है ।"[2]

---

1. अलग अलग वैतरणी - शिवप्रसाद सिंह - पृ. 249.
2. शिवप्रसाद सिंह का कथा साहित्य - सत्यदेव त्रिपाठी - पृ. 199

सामाजिक मूल्यों के विघटन की स्थिति करैता में यत्र तत्र दिखाई पडती है । जमीन्दार जैपालसिंह, पुत्र बुझारथ सिंह आदि से लेकर गाँव के नवयुवकों तक यही स्थिति फैली हुई है । गाँव की युवा पीढी के संबंध में जग्गन मिसिर का कथन ध्यान देने योग्य है । "नहीं कि शेखर की तरह मुंह बनाये, बीड़ी सुडकते मजनू बने गली-गली घूम रहे हैं । दुवन्नी-चवन्नी लेकर इश्क कर रहे हैं । ऐ साले टुकडहे क्या ऐयासी करेंगे किसा के बदन में एक तोला खून नहीं, हाड़ पर छटांक गोश्त नहीं । ये तो कुत्ते हैं, ससुरे, बिना कुछ सोचे समझे इधर-उधर "कुकरलेटें" लगा देते हैं । ये तो कुछ समझते नहीं । न अपने को, न दूसरे को ।"[1] सामाजिक बोध में आए हुए बदलाव के कारण युवा पीढी की दृष्टि और कार्यकलाप में आई हुई विद्रूपता यहाँ दृष्टव्य हैं । करैता गाँव की ज़िन्दगी एक सीमा तक भारतीय जनजीवन में आए हुए सामाजिक मूल्यसंकट का बोध कराने में सक्षम निकलती है । बुझारथ और कनिया, मास्टर शशिकांत, डॉ. देवनाथ, विपिन, खलील मियाँ, जग्गन मिसिर आदि की ज़िन्दगी में भारतीय ग्रामीण जनता की ज़िन्दगी की झलक मिलती है । गाँव में दूसरे का सुख और शांति हर तीसरे व्यक्ति के लिए अशान्ति बन जाती है और अपने जाने पहचाने लोगों पर आनेवाली आफत प्रत्येक व्यक्ति के लिए अन्दरूनी खुशी को जन्म देती है ।

बुझारथ सिंह और उसके साथियों ने गाँव की ज़िन्दगी को और उसके मूल्यबोध को पूरी तरह से तहस नहस किया है । गाँव में

---

1. अलग अलग वैतरणी - शिवप्रसाद सिंह - पृ. 444

निर्माण और सामाजिक कल्याण के कार्य करनेवाले मास्टर शशिकान्त लोगों की तन्दुरुस्ती का ख्याल रखनेवाले डा. देवनाथ जैसे व्यक्ति अंत में हार स्वीकार करके गाँव से बिदाई लेते हैं । विपिन पुष्पा को खो बैठता है और बुझारथ सिंह की पत्नी कनिया को अपने परिवार में घटित होनेवाले सारे हादसे सहने पड़ते हैं । इसी तरह गाँव का नैतिक मूल्यबोध च्युति की पराकाष्ठा को छूता है, जिससे सामाजिक बोध का आन्तरिक पक्ष विकृत हो जाता है । "अलग अलग वैतरणी" की रचना प्रक्रिया गाँव के परिवार पर केन्द्रित हुई है । इससे यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक बोध पर छाई हुई कालिमा के स्वरूप से गाँव भी प्रभावित हो गए है । इस तरह स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध को और उसके सामाजिक पक्ष को परिवर्तन के शिकार बनाने में शहर और गाँव एक जैसी भूमिका अदा कर रहे हैं ।

आप का बंटी (1971)

जहाँ तक "आप का बंटी" का सम्बन्ध है मन्नू भण्डारी ने सामाजिक बोध के एक ऐसे पहलु को उभारा है जिसमें पति-पत्नी की अहंवादिता के कारण जन्म लेनेवाली स्थितियों के संकट का भोग करने के लिए बंटी जैसा निरीह बालक अभिशप्त हो जाता है । शकुन और अजय दोनों पति-पत्नी है, शिक्षित है, उच्च पद की नौकरी करनेवाले हैं, आर्थिक रूप से स्वतंत्र है और समाज के प्रतिष्ठित लोगों में से है । परन्तु उनके बीच जो अजनबी रहती है उसकी रहस्यात्मकता दस वर्षों के बाद पर्दाफाश करके बाहर निकलती है, तब प्रिंसिपल शकुन को मालूम होता है कि वह एक अस्वतंत्र ज़िन्दगी जी रही हैं । अजय से तलाक होने के बाद वह डाक्टर जोशी

के साथ नई ज़िन्दगी की शुरूआत करने का निश्चय करती है ।

डाक्टर जोशी के साथ अपनी ज़िन्दगी की शुरूआत से ही उसे दोहरी ज़िन्दगी का तनाव भोगना पडता है । बंटी के लिए माँ और डाक्टर जोशी के लिए पत्नी, इन दोनों व्यक्तित्वों के बीच उसका जीवन दुविधापूर्ण बन जाता है । अपने लिए स्वतंत्र ज़िन्दगी ढूँढ पाने की इच्छा तथा अजय से प्रतिशोध लेने के लक्ष्य से रचाई गई शकुन की शादी बंटी के लिए अभिशाप सी बन जाती है । बंटी डाक्टर के घर में अपने को उपेक्षित एवं फालतू मानने लगता है । डाक्टर के घर जाने पर भोजन के लिए सब लोग अपने लिए तय किए हुए कुर्सी पर बैठते हैं और बंटी खडा रहता है । "तुम भी अपनी कुर्सी तय कर लो बेटे ! बोलो इधर बैठोगे या उधर ? सभी की अपनी जगह तय है ; अपनी कुर्सियाँ तय है, बस उसी का कुछ तय नहीं है, जो बचा है उसमें से ही उसे कुछ चुन लेना है ।..... अमि और जोत की "यह लाओ, वह लाओ..... के बीच बंटी अपनी नज़रों में जैसे कहीं से बड़ा बेचारा हो आया । बेचारा और उपेक्षित ।"[1]

अपनी अस्मिता की खोज में निकल पडनेवाले पति-पत्नी नए फेरे लेकर नए पति-पत्नी को चुन लेते हैं । एक तलाश का अंत दूसरी तलाश के आरंभ में होता है । जैसे एक तलाक का अंत दूसरी शादी में । अजय, बंटी और डाक्टर जोशी के साथ अपने संबंध के बीच तडपती हुई

---

1. आप का बंटी - मन्नू भण्डारी - पृ. 123

शकुन की जीवन स्थितियों पर मन्नू भण्डारी ने प्रकाश डाला है । " आप का बंटी एक भिन्न कोण की रचना है ।..... नारी की अकुलाहट, उसके जीवन की घनीभूत वेदना तथा दूसरों को पराजित करनेवाली उसकी इच्छाशक्ति आधुनिकता बोध से बनी है । आधुनिकता सामाजिक बदलाव की उपज है, अतः "आप का बंटी" की समस्या जितनी मनोवैज्ञानिक है, उतनी ही सामाजिक भी है । इसे केवल दाम्पत्य जीवन के बिखराव या नारी के अहम् की समस्या या आधुनिक बोध से प्रभावित नारी के मानसिक संघर्ष की रचना कहना समीचीन है । यह तो आधुनिक भाव-बोध की जटिलता और सामाजिक जीवन में व्याप्त विघटनात्मक प्रवृत्ति की उपज है ।..... दर असल यह उपन्यास समकालीन भारतीय परिवेश से बँधी नारी और उसकी पारिवारिक स्थितियों से प्रभावित बच्चे की मनःस्थिति का सम्यक् बोध करा पाता है ।"[1]

"आप का बंटी" में शकुन और अजय का संबंध पूरी तरह टूट जाता है और दोनों नए सिरे से जीने लगते हैं । परन्तु पति-पत्नी के सम्बन्धों का इस तरह समाप्त हो जाना भारतीय सामाजिक बोध पर प्रश्नचिह्न बन जाता है । जन्म-जन्मांतर के संबन्धों को ठुकराते हुए पति-पत्नी अपनी जोड़ी बदल लेते है, जैसे कोई लिबास बदल लेता है । यहाँ से सवाल खडा होता है कि "क्या भारतीय सामाजिक बोध पाश्चात्य स्थितियों की नकल में अपने दायित्वों को नकार सकता है ? अगर नकारेगा तो आगामी पीढ़ी की क्या हालत होगी ? पिता और माता के स्नेह और वात्सल्य से वंचित होकर संतान कहाँ तक समाज के लिए समस्या बन सकती है ?

---

1. आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - डा. रामविनोद सिंह - पृ. 10

असल में इस उपन्यास का सामाजिक बोध इसी समस्या पर गहरा सवाल प्रस्तुत करता है ।

उपर्युक्त उपन्यासों में उभर आनेवाली स्थितियाँ सामाजिक बोध के परिवर्तित अंशों को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करती है । आंशिक रूप में और पार्श्विक रूप में जिन प्रसंगों का आयोजन किया गया है, वे प्रसंग भारतीय जनमानस पर छाई हुई मूल्यगत शंकाओं की बहुत ही सक्षम प्रतिक्रिया प्रस्तुत करते हैं । शहर से लेकर गाँव तक समाज के बहुरंगी चेहरों से लेकर व्यक्ति के अंतरंग तक मूल्यगत परिवर्तन का गहरा रंग विद्यमान होता है । इसमें पति-पत्नी, परिवार और परिवार के इर्द-गिर्द जीनेवाले साधारण मनुष्य सब शामिल है । लगता है कि मूल्यसंक्रमण की स्थितियों का बहुत गहरा प्रभाव उपर्युक्त उपन्यासों के जीवन को बड़ी गहराई तक प्रभावित कर गया है । संक्षेप में सामाजिक मूल्यबोध के पक्ष की दृष्टि से और उसमें आए हुए परिवर्तन की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि लेखकों की रचना धर्मिता ने समसामयिक जीवनबोध के प्रति दायित्वपूर्ण दृष्टि को अपनाने के साथ-साथ उसकी विडंबनाओं का भी रेखांकन किया है ।

वैयक्तिकता और अस्मिता की तलाश

स्वातंत्र्योत्तर कालीन रचनाओं में वैयक्तिकता का पक्ष अनोखे रूप को धारण करके उभरता है । आज़ादी के बाद के परिवेश ने जहाँ एक ओर संयुक्त परिवार को खण्डित किया तो दूसरी ओर व्यक्ति को

अकेला कर दिया । व्यक्ति महानगरीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में यांत्रिक जीवनबोध की पकड़ में आकर तिलमिलाने लगा और अकेलेपन की विभीषिका का शिकार बनने लगा । अपनी अस्मिता की तलाश जारी रखने के लिए वह बाध्य सा हो गया । अस्मिता की तलाश की समस्या पुरुष और नारी दोनों के जीवन से संबंधित लगती है । आज़ादी की सीमा ,वैयक्तिक, सामाजिक नियमों का दबाव और जीते रहने की विशेष मानसिकता आदि कुछ ऐसे मुद्दे हैं, जिनका समीक्षात्मक पक्ष "रुकोगी नहीं राधिका", "वे दिन", "सूरजमुखी अंधेरे के", "एक बंगला" जैसे उपन्यासों में दिखाई पडता है ।

डाक बँगला (1963)

"डाक बँगला" यद्यपि थोडी पुरानी रचना है फिर भी उसमें चित्रित ज़िन्दगी की विविधता स्त्री की एकान्तमयी यात्रा के साथ जुडे हुए घने अन्धकार का स्वरूप प्रस्तुत करती है । "डाक बँगला" तक पहुँचनेवाली इरा की ज़िन्दगी यद्यपि वैयक्तिकता की तलाश के उद्देश्य से शुरू नहीं होती, फिर भी वैयक्तिक प्रयासों की एक सशक्त गाथा है । जीने की राह को सुलझाती हुई तनहाई को गले लगाने की विडम्बनायुक्त स्थितियों में जीती हुई इरा चाहकर भी वह नहीं बन पाती, जो वह बनना चाहती थी । इरा वह बन जाती है जो वह बनना नहीं चाहती थी । डाक बँगला सयमुच इरा की जीवन गाथा ही है । पिता-दादी की पाली इरा को ज़िन्दगी दादी के द्वारा सुनाई गई कहानियों जैसी लगती थी । युनिवर्सिटी में वह एक मित्र विमल के साथ नाटकों में भाग लेने लगती है और अंत में वह घर छोडकर उसके साथ जीने का निश्चय करती है ।

विमल के साथ जीने के लिए उसे नौकरी करनी पडती है । हेमेन्द्र बतरा के घर में नौकरी मिलती है और विमल के मन में उसके प्रति शंकाएँ उठने के कारण वह नौकरी छोडना चाहती हैं । किन्तु आर्थिक कठिनाई से वह नौकरी करने के लिए बाध्य हो जाती है । अंत में विमल के बम्बई जाने से अकेली होकर वह बतरा के घर में जीने लगती है । उसके अनुसार "दुनिया बहुत कमीनी है । यहाँ औरत बगैर आदमी के रह ही नहीं सकती । चाहें उसके साथ उसका पति हो, या भाई या बाप । कोई न हो तो नौकर ही हो । पर आदमी की छाया ज़रूर चाहिए ।"[1]

बतरा के घर में शीला का आना और लौट जाना उसके प्रति इरा के मन में सहानुभूति जगाती है । बतरा और विमल में उसे कुछ समानताएँ, दिखाई पडती है और अंत में इरा बतरा के साथ संबंध जोडती है । उसे लगता है कि "किसी के न चाहते हुए भी दुनिया की बातें ठीक-ठीक चलती रह सकती है । और शादी करने से कोई बडा फर्क नहीं आता, क्योंकि शादी से आत्मा का कोई संबंध नहीं है । अगर आत्मिक मिलन की ही बात होती तो शादियाँ करने की उम्र पचास के बाद होती ।"[2]

बतरा उसके साथ धोखा करता है फिर भी उसके साथ जीती रहती है । बाद में शीला आकर उसे वहाँ से निकालती है ।

---

1. डाक बँगला - कमलेश्वर - पृ. 46
2. डाक बँगला - कमलेश्वर - पृ. 67

डा. चन्द्रमोहन के बच्चों की देखभाल एवं उनको पढ़ाने के लिए वह नियुक्त होती है । डा. चन्द्रमोहन के साथ वह आसाम चली जाती है और न चाहते हुए भी उससे ब्याह कर लेती है । उसके प्रति सहानुभूति के होते हुए भी डा. चन्द्रमोहन के साथ जीना उसे बिलकुल पसंद नहीं है । डा. चन्द्रमोहन उसको खुश रखने के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाता है । किन्तु उसके व्यवहार के प्रति इरा के मन में घृणा ही उत्पन्न होती है और वह उसे सताती रहती है । उसे सताकर वह भी चैन नहीं पाती थी। वहाँ से इरा नागपुर में सहेली दमयन्ती के पास जाती है । वहाँ रहते समय डाक्टर के गोली लग जाने की बात से वह आहत होती है और उसके जीने की इच्छा करते हुए वह उसकी सेवा करती है । डा. चन्द्रमोहन की मृत्यु से वह बहुत दुःखी भी होती है ।

नागपुर से वह तिलक के साथ चलती है । तिलक के साथ जाते हुए रास्ते में पूर्वपरिचित सोलंकी से मुलाकात होती है । तिलक, सोलंकी और इरा आडू के "डाक बँगले" में चले जाते हैं । वहाँ रहते समय इरा अपनी जीवन गाथा तिलक को सुनाती हैं । उसका यह कथन ध्यान देने योग्य है "प्रकृति में जो यह जंगलीपन है तिलक यह भी कितना खूबसूरत है । मैं बहशियों की तरह जीना चाहती हूँ..... प्रकृति के इस जंगलीपन की तरह । मन करता है नंगी चट्टानों के बीच देवदारों की तरह उग सकूँ बस खड़ी रहूँ ।"[1]

---

1. डाक बँगला - कमलेश्वर - पृ. 13

कमलेश्वर के "डाक बँगला" उपन्यास की नायिका इरा हमारे सामने दुविधा के आधार पर रूपायित होनेवाले नैतिक प्रहार का स्वरूप प्रस्तुत करती है । समाज यद्यपि इरा को प्रश्नचिह्न की दृष्टि से देखता है, फिर भी उसकी वैयक्तिक समस्याओं का आकलन यह सिद्ध करता है कि नैतिकता का तिरस्कार परिस्थितिजन्य दबावों के शिकार होने के कारण घटित होता है । जान बूझकर इरा ने कभी नैतिक मूल्यों का तिरस्कार नहीं किया था । प्रेमी के साथ निकल पडते समय उसको कभी पता भी नहीं चला था कि वह मूल्यों को तिरस्कृत करके एक वारांगना का जीवन जीने जा रही है । कथा बिन्दुओं में आए हुए हेर फेर और घटनाक्रम का विकास इरा की ज़िन्दगी को कई पुरुषों से जोड़ता है और कई प्रकार के शारीरिक संबंधों को मज़बूरन स्वीकारने के लिए उसे प्रेरित करता है । घटनात्मक तूफानों से घिरी हुई इरा एक के बाद दूसरे पुरुष से अपना संबंध जोडती चली जाती है । और इस यात्रा में सबसे अधिक नैतिक मूल्यों पर प्रहार करती नज़र आती है । किसी भी नारी के लिए इस प्रकार का व्यवहार करना दुविधाजनक अवश्य होगा । इसका संकेत सारे उपन्यास में परोक्ष रूप से विद्यमान होता है ।

जीवन की स्थितियाँ, जीवन का यथार्थ और जीवन की मज़बूरियाँ यदि किसी को जीने के लिए बाध्य करती हुई नैतिकता को तिलांजलि देने के लिए प्रेरित करती है तो इसमें अपराध की या मूल्यच्युति की बात कहाँ तक उभर सकती है, यह एक बुनियादी सवाल है । इस सवाल का जवाब उपन्यास के अंत में अपने आप ही रूपायित होता है जहाँ अपने पैरों पर खडे होने की हिम्मत नायिका को मिलती है ।

वे दिन (1964)

"वे दिन" उपन्यास में अस्तित्ववादी चेतना के आधार पर सम्बन्धों की पहचान और वैयक्तिकता की सीमाबद्धता, क्षणों का महत्व, रिश्ते-नातों की क्षणिकता आदि तत्वों पर निर्मल वर्मा ने प्रकाश डाला है । "वे दिन" चेकोस्लावोकिया के परिवेश में लिखा गया पहला हिन्दी उपन्यास है जिसमें मानवीय संबंधों की जटिलता और यूरोपीय जीवन में व्याप्त आतंक को सामने लाया गया है ।[1] द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न मृत्यु भय की छाया मानव को किस हद तक प्रभावित कर गई है इसकी सफल अभिव्यक्ति इस उपन्यास में हुई है । क्षणों को मात्र महत्व देती हुई अस्मिता की खोज में जीनेवाली रायना के एक भारतीय गैंड के साथ बिताए जानेवाले क्षणों का और दोनों की मानसिकता के व्यतिरेक का चित्रण है "वे दिन" में ।

रायना को दूसरे विश्वयुद्ध के समय कॉसोट्रेशन कैम्पों की ज़िन्दगी जीनी पडती है । जीवन की क्षणिकता की पहचान रायना और जाक के बीच के संबंध सूत्र को तोडता है और मीता, रायना के साथ रह जाती है । संबंधों का ढीलापन उनके जीवन में किस हद तक आ गया है इसका स्पष्ट प्रमाण नायक से रायना के निम्नलिखित कथन में प्रस्तुत होता है । "मीता आपके पास ही रहता हैं ? वह उत्तर देती है, हमेशा नहीं । हम उसे बाँट लेते है । यह वह सहज और शाँत स्वर में कहती है । उसमें

---

1. हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना - डा. कुँवरपालसिंह - पृ 202

"भयावह" कुछ भी नहीं होता, क्योंकि पुत्र का बाँटा जाना कोई महत्वपूर्ण बात है भी नहीं। महत्वपूर्ण है अस्तित्व को सुरक्षित रखना ।"[1]

रायना और गैंड के बीच का संबंध क्षणों तक ही प्राप्य रहता है । लेकिन समय की सीमा रेखाओं के अन्दर कुछ संबंध बनते हैं, जिनका भारतीय परिवेश में तो अर्थ होता है । लेकिन पाश्चात्य परिवेश में कोई अर्थ नहीं होता । क्योंकि रायना के लिए ऐसे क्षणों का आना जाना ही ज़िन्दगी को अर्थपूर्ण बनाता है और उनका हो जाना एक स्वाभाविक परिणाम भी है । इसलिए प्राण की गलियों में और देखने लायक इमारतों में, कमरे की तनहाइयों में बिताए हुए क्षण अस्तित्व के ही क्षण है । इस प्रकार अस्तित्व वरण की स्वतंत्रता से जुडकर अस्मिता की बोधवत्ता को नया आयाम प्रदान करता है ।

अस्तित्ववाद का प्रभाव उपन्यास में सब कहीं दिखाई पडता है । "जब वह एजेन्सी में दुभाषिए का काम करना स्वीकार लेता है और मैनेजर एक लिफाफा खिसका देता है उसके खर्चे के लिए, तो वह तुरन्त सावधान हो उठता है, वह मुस्कुरा रहा था । मुझे बुरा लगा कि वह मेरे सुख का अनुमान कैसे लगा सकता है ।" यह अस्तित्वगत चेतना ज्यों पाल सार्त्र की आत्मकथात्मक पुस्तक "वृत्स" में बहुत मिलती है । इस उपन्यास

---

1. वे दिन - निर्मल वर्मा - पृ. 357

में भी यह चेतना कई स्तरों पर मिलती है कि किसी को किसी में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को कुछ भी करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए ।"[1]

समूचे उपन्यास की ज़िन्दगी अभारतीय परिवेश की रही है । फिर भी दूसरे महायुद्ध की विभीषिका से आक्रान्त जनमानस में अंकित जीवन की क्षणिकता का एहसास यह ज़िन्दगी कराती है । मृत्युबोध की विडम्बनात्मक छाया को हर कार्य के साथ जोडकर देखनेवाला अस्तित्ववादी दर्शन रचनाधर्मिता को रूपायित करता दिखाई पडता है । वैसे अस्मिता की तलाश और वैयक्तिकता के बोध को अस्तित्ववादी चेतना की पृष्ठभूमि में अंकित करनेवाला प्रस्तुत उपन्यास बीसवीं शताब्दी की मानवीय त्रासदी का और उसकी विडंबनात्मक स्थितियों का बोध कराता है । निर्मल वर्मा ने "वे दिन" के माध्यम से भोगे हुए क्षणों के यथार्थ को नैतिक और सामाजिक बन्धनों से मुक्त करके वरण की स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है । यहाँ व्यक्ति की अस्मिता सामाजिक मूल्यगत मान्यताओं का विरोध करती हुई उभरती है । वस्तुतः यह आधुनिक मानव के व्यक्तिबोध की तलाश की एक सीमा रेखा है ।

रुकोगी नहीं राधिका (1967)

"रुकोगी नहीं राधिका" में उषा प्रियंवदा ने एक ऐसी आधुनिक नारी को प्रस्तुत किया है जो सम्बन्धों की नई सीमारेखाओं की

---

1. हिन्दी उपन्यास - डा. सुरेश सिन्हा - पृ. 356

तलाश में नैतिक जीवनबोध को तिलांजलि देती हुई निकल पडती है । आज की बदली हुई परिस्थितियों में नारी अपने आप में अन्तर्विरोधों का शिकार है । परंपरा और संस्कृति उसका सहारा नहीं बन सकतीं । आधुनिकता को भी वह पूरी तरह अपना नहीं पाती । ऐसी स्थिति में पापा को जीवन का सब कुछ समझकर जीनेवाली राधिका के लिए पापा का पुनर्विवाह अस्वीकार्य बन जाता है । यहाँ से राधिका अपनी यात्रा तय कर लेती है जिसको हम एक खोज कह सकते हैं । यह यात्रा डेनियल पीटरसन नामक विदेशी पत्रकार से होती हुई अक्षय तक पहुँचती है और वहाँ भी रुके बिना मनीश की ओर बढ़ती है । वह मनीश में अपनी ज़िन्दगी की यात्रा के सहगामी को ढूँढ लेती है । विद्या की मृत्यु के बाद पापा के चाहने पर भी घर पर नहीं रुकने का कारण राधिका व्यक्त करती है । "नहीं पापा, मैं जाना चाहती हूँ । मनीश, मेरे एक बन्धु ।"[1]

राधिका की पूर्वकथा कई दृष्टियों से असाधारण है । अपने अस्तित्व और स्वतंत्रता की खोज में राधिका घर छोडकर चली जाती है । पापा के साथ ममता का जो संबंध था उसे विद्या के विमाता के रूप में आने से राधिका छोड देती है । उसके लिए घर पर रहना ही मुश्किल सा लगता है और वह विदेश चली जाती है डैन के साथ । डैन को लगता है कि राधिका उसमें प्रेमी नहीं पिता ढूँढ रही है और डैन उसे अपने साथ जो संबंध है उससे मुक्त कर देता है । डैन से संबंध विच्छेद के बाद वह नौकरी करती हुई पढाई पूरा करके भारत लौटती है । दिल्ली में उसकी मुलाकात

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 116

अक्षय से होती है जिसका व्यवहार, चारित्रिक गांभीर्य, स्थायित्व, आदि से वह आकर्षित होती है । विदेश में पहली बार मिलने वाला मनीश जब दिल्ली आता है तब उसके प्रति भी उसके मन में आकर्षण पैदा होता है । वैसे मनीश में किसी भी युवती को आकर्षित करने की विलक्षण कला है जिससे राधिका भी बच नहीं पाती । अक्षय और मनीश दोनों के बीच राधिका अपने लिए उपयुक्त व्यक्ति को ढूँढती रहती है । अक्षय के कलकत्ता चले जाने के बाद राधिका भाई विनय के घर लखनऊ चली जाती है । इलाहाबाद से विद्या की मृत्यु की खबर सुनकर वहाँ पहुँचती है किन्तु वहाँ पर रुकती नहीं । कई दिनों तक विदेश में रहने के बाद उसे भारत में घुटन महसूस होती है और उस घुटन को गहरा बना देते हैं उसके रिश्तेदार और वह अपनी खोज को जारी रखती है ।

विद्या, भाभी और भाई के सामने राधिका पापा से कहती है कि "जो आप चाहते हैं, वही हमेशा क्यों हो ? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नहीं है ? आप की बेटी हूँ, ठीक है, पर अब बड़ी हो चुकी हूँ और मैं जो चाहूँगी वही करूँगी ।" अपनी स्वतंत्रता और अस्तित्व के सामने किसी का भी आ जाना राधिका से बर्दाश्त नहीं होता । पिता से प्रतिशोध लेने की इच्छा भी राधिका के विदेश चले जाने के निर्णय के पीछे काम करती है । जब वह विदेश चली जाती है, वहाँ अपने लिए उपयुक्त स्थान ढूँढने में वह असफल हो जाती है । लौटने के बाद उसे भारत में जीना भी मुश्किल सा लगता है । मनीश भी उसी तरह का जीवन बितानेवाला है । मनीश के शब्दों में दोनों की स्थिति स्पष्ट दिखाई पड़ती है । "जब हम अपना देश छोड़कर बाहर जाते हैं, तो पहले छह महीने हम एक कल्चरल शॉक

के दौरान बिताते हैं, जबकि हर कदम पर हमें अपना देश, अपनी संस्कृति ऊँची दिखाई देती है फिर हम उस देश में रहने के आदी हो जाते हैं । दो साल, ढाई साल, उस नये देश में रहकर उसके रीति-रिवाज़ के आदी होकर हम अपने देश में वापस आते हैं, तो हमें एक धक्का दुबारा लगता है रिवर्स कल्चरल शॉक ।"[1]

राधिका के विदेश से लौटने पर उसके रिश्तेदारों के लिए वह एक दिखावे की चीज़ बन जाती है जिससे परिवार की शान बढ जाती है । लेकिन राधिका एक "शो चीज़" बनाए जाने के पक्ष में नहीं है । एयरपोर्ट में उसे लेने के लिए किसी के न आने पर जो दुःख हुआ था उससे भी अधिक दुःख का अनुभव "शो चीज़" बनने में उसे होता है ।" अमेरिका से लौटी हुई ननद, भाभी के लिए उसी संपन्न स्थिति की द्योतक है जैसे बड़दा के लिए, पोर्च में खडी पौण्टियाक गाड़ी ।"

"अपनी अधिकांश कथाकृतियों में उषा प्रियंवदा ने नारी के बदलते हुए सामाजिक और मानसिक परिवेशों को अभिव्यक्त किया है । वे कोई समाधान या समस्या नहीं उठाती और पाठक के समक्ष महत्वपूर्ण प्रश्न ही रखती हैं ।..... मानसिक स्तर पर पुराने संस्कारों और परंपराओं से जूझती हुई उनकी नारी पात्र एक विशेष प्रकार के आदर्श - जो उनका स्वयं का निर्माण किया होता है - से समझौता कर लेती है ।"[2] घनश्याम मधुप

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 86
2. हिन्दी लघु उपन्यास - घनश्याम मधुप - पृ. 181

का यह मूल्यांकन राधिका को भी खूब जंचती है । राधिका का यह कथन इस बात को प्रमाणित करता है "विगत को सोचने से क्या ? तब जो मैं थी, अब वह नहीं हूँ । हर समय जो भी बीतता है, जीती हूँ, उसके बाद पहली-सी कहाँ रहता हूँ । कल भी तुम्हारे जाने के बाद मैं "[1]

पापा की बात को टालती हुई विदेशी पत्रकार के साथ निकल पडनेवाली राधिका के जीवन में मनीश और अक्षय जैसे युवा आते हैं । प्लेबॉयनुमा लगने वाले ये पुरुष राधिका के संबन्धों को कहीं उलझाते हैं, वह कभी सुलझती नहीं । समूचे उपन्यास का परिवेश नारी के अस्तित्व, उसके सहजबोध उसकी स्वाभाविकता और नारी की सीमाबद्धता से जुडकर खडे होते हैं । नैतिक बोध का आधुनिक परिवेश में कोई निश्चित अर्थ बनता नहीं दिखाई पडता । वैयक्तिक स्वतंत्रता की पहचान, सामाजिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर नहीं हो सकती । इसका एहसास होता भी है और कुछ सीमा तक टूटता भी है । डा. मनमोहन सहगल का वक्तव्य ध्यान देने योग्य है - "यह उपन्यास एक ऐसे संभ्रान्त परिवार की कहानी है, जिसका प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तित्व को लेकर निज में केंद्रित अन्य से अलग-थलग होकर जी रहा है - जीना चाहता है ।"[2]

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 100
2. हिन्दी उपन्यास के पद चिह्न - डा. मनमोहन सहगल - पृ. 299

सूरजमुखी अँधेरे के (1972)

जहाँ तक "सूरजमुखी अँधेरे के" का सवाल है कृष्णा सोबती ने एक ऐसी नायिका को प्रस्तुत किया है, जो अपनी अस्मिता की तलाश अजीबोगरीब स्थितियों में करती है । नायिका रत्ती आद्यंत किसी मानसिक आघात से परेशान लगती है । जिसका संबंध उसके शरीर पर किये गये पाशविक आक्रमण से था । कुण्ठाग्रस्त मनोवृत्ति की शिकार बनी हुई नायिका कई पुरुषों से परिचित होती है । लेकिन किसी को अपना नहीं पाती या किसी की बन नहीं पाती । अपने बारे में रत्ती का विचार है "स्लाई से रत्ती की आँखें डबडबा आई । चाल धीमी हो गई । जिस सड़क का कोई किनारा नहीं - रत्ती वही है । वह आप ही अपनी सड़क का "डैड-एण्ड" है । आखिरी छोर है ।"[1]

जीवन की कटु यातनाओं के कारण रत्ती के मन में समाज के प्रति एक प्रकार का विरोधी भाव जन्म लेता है । अपने अस्तित्व को महत्व देनेवाले व्यक्ति की खोज में रत्ती कई पुरुषों से मिलती है । जगतधर, रोहित, रंजन, बाली, सुमेर, डेविडवाइट, भानुराव, सुब्रामनियम, जयनाथ, मोहन, राजन, श्रीपत आदि के बीच रत्ती को अपने सही अर्थ में समझनेवाला या अपने व्यक्तित्व को महत्व देनेवाला कोई भी नहीं दिखाई पडता । नारी के संतुलन का आधार अपने अस्तित्व की स्वीकृति है । और स्त्री के लिए

---

1. सूरजमुखी अंधेरे के - कृष्णा सोबती - पृ. 11

तो जीवन भर ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिलता । अपने बचपन के शाप को धो देनेवाले एक व्यक्ति से उसकी मुलाकात होती है वह है दिवाकर । अपनी खोज के अंत में दिवाकर की बातों में अपने लिए उचित व्यक्ति को पाकर वह संतुष्ट हो जाती है ।

अस्तित्व की खोज में रत्ती समाज के सभी प्रकार के मूल्यों को ठुकरा देती है । दिवाकर का विवाहित होना भी उसके साथ संबंध जोडने में उसे कोई बाधा नहीं लगता । अपने साथ किए गए अनैतिक व्यवहार का विरोध वह समाज के मूल्यों को ठुकराकर प्रकट करती है । नायिका कई पुरुषों से अपना संबंध जोडती है लेकिन किसी को अपना नहीं पाती या किसी की बन नहीं पाती । नारी देह और नारी के जीवन के अर्थ की खोज करनेवाली रत्ती अपनी यात्रा को नैतिकता की श्मशान भूमि से आगे बढाती है । जहाँ हर पुरुष एक कंकाल का रूप धारण करके उसके सामने गिड-गिडाता है । उनको देने के लिए रत्ती के पास कुछ भी नहीं । क्योंकि उसका जिस्म किसी पुरुष को स्वीकारने की अवस्था में नहीं है । परंतु विवाहित पुरुष दिवाकर तक पहुँचते पहुँचते उसे लगता है कि ज़िन्दगी के किसी अजीब से मोड पर पहुँच गई है । जहाँ उसकी तलाश एक सीमा तक पूरी हो रही है । "सूरजमुखी अँधेरे के" उपन्यास में नारी की दैहिक अभिलाषाओं के ऊपर छाए हुए काले सूरज की किरणें कभी नहीं समाप्त होनेवाले अन्धेरे का बोध कराती हुई बिखर पडती है । नारी चेतना के तमोमयी क्षितिजों की ओर पग-पग बढनेवाली रत्ती वास्तव में एक पहेलिका बन जाती है ।

अस्मिता की तलाश को विशिष्ट परिवेश में प्रस्तुत कर कृष्णा सोबती ने एक ऐसे प्रश्न को खडा किया है, जो आम स्त्री से संबंधित न होते हुए भी अहमियत रखता है । नारी के अस्तित्व का, उसकी अस्मिता का सवाल केवल शरीर मात्र का नहीं है, उसकी आत्मवत्ता का है । पुरुष शायद ही इस तत्व को सही मायनों में स्वीकार पाता है । देश भर की समस्याएँ नारी की इस पहचान के अभाव से जन्मी हुई लगती है । वस्तुत: जब पुरुष समाज स्त्री को एक शरीर मात्र न मानकर उसकी अस्मिता की पहचान करने लगेगा और एक स्वतंत्र इकाई के रूप में उसको मान्यता देने लगेगा तो समस्या का सफल समाधान प्रस्तुत हो पायेगा । "सूरजमुखी अंधेरे के" उपन्यास के अंधकार को मिटाने का एकमात्र उपाय यही सिद्ध होता है ।

वैयक्तिकता और अस्मिता की तलाश की दृष्टि से उपर्युक्त उपन्यासों का विवेचन करते समय पता चलता है कि अधिकतर उपन्यासकारों ने इस विषय के अंदर नारी की अस्मिता और पुरुष की अहंवादिता दोनों को समीक्षा का विषय बनाया है । वैसे पुरुष की अस्मिता इतनी प्रमुख समस्या बनकर नहीं उभरती जितनी नारी की अस्मिता की समस्या है । सदियों से पीडित नारी, पुरुष के द्वारा बनाई हुई नैतिकता के प्रहारों से दामन बचाकर निकल जाना चाहती है । "डाक बँगला" में नारी परिस्थितियों की शिकार बनकर पुरुषों के सामने अपने शरीर को न्योछावर करने के लिए विवश हो जाती है । यहाँ वह यह नहीं समझ पाती कि, शरीर के सिवा भी वह और कुछ है, या नहीं । मुट्ठी भर माँस की पुतली के रूप में नारी को देखनेवाले पुरुष समाज के सामने "डाक बँगला" की इरा हताश हो जाती है और पुरानी पीढी की दृष्टि के अनुसार जीती हुई अंत में चट्टानों के

बीच देवदारु के समान उठ खडे होने की अभिलाषा संजोकर रह जाती है । यह उस पुरानी पीढी की नारी का चित्र है जो नई पीढी की नारी के समान संघर्ष नहीं कर पाती ।

उधर अभारतीय परिवेश में नैतिक बन्धनों से मुक्त होकर अपना रास्ता स्वयं तय करनेवाली और अस्मिता की तलाश को नैतिक मुक्ति के आधार पर आँकनेवाली रायना एक नमूना प्रस्तुत करती है । परन्तु यह नमूना भारतीय परिवेश में स्वीकारा नहीं जा सकता । स्वातंत्र्योत्तरकालीन नारी की मुक्ति संबंधी अवधारणा को विशेष परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयास "सूरजमुखी अंधेरे के" और "रुकोगी नहीं राधिका" में दृष्टव्य है । उषा प्रियंवदा ने नारी को पूर्ण स्वतंत्र होने की और अपनी ज़िन्दगी को खुद तय करने की आज़ादी दी है । राधिका का प्रतिशोध राधिका से नहीं परंतु राधिका के समाज से है, उस व्यवस्था से है जिसने राधिका को वह सब करने के लिए बाध्य किया है । राधिका वैसे आधुनिक युवा पीढी की एक वैकल्पिक मानसिक स्थिति का परिचय देती है जो किसी भी बन्धन को मानने के लिए तैयार नहीं होता और मुक्तरति का और वरण की स्वतंत्रता का सहारा लेना चाहता है ।

मूल्यसंक्रमण की स्थिति की दृष्टि से राधिका का आक्रोश एक संधिकाल का आक्रोश है जहाँ पुराने मूल्य बने नहीं रह सकते और नए मूल्य बने बिना नहीं रह सकते । इस दृष्टि से "रुकोगी नहीं राधिका" की

स्थितियाँ मूल्यबोध की संक्रांतिकालीन अस्मिता की समस्या का उद्घाटन करती है ।

"सूरजमुखी अंधेरे के" में आई हुई वैकल्पिक स्थितियाँ नारी को वह आज़ादी देना चाहती है जिसकी पूरी जिम्मेदारी उसीके कंधों पर हो सकती है । अविवाहित पुरुष से ही नहीं विवाहित पुरुष से भी पति भाव से संबंध रखने की छूट नारी को देने का परोक्ष सुझाव कृष्णा सोबती ने रत्ती के माध्यम से दिया है । पुरुष के बलात्कार की शिकार नारी का प्रतिशोध समाज के नैतिक नियमों की अवहेलना के माध्यम से करना एक असाधारण प्रतिक्रिया है । परंतु यह प्रतिक्रिया उस विशिष्ट परिस्थिति में स्वीकार्य बन जाती है । रत्ती इस प्रकार नारी की उस आत्मवत्ता का प्रतीक बनकर हमारे सामने आती है जो पुरुष को चुनौती देती हुई स्त्री के अस्तित्व का एहसास कराती है ।

संक्षेप में अस्मिता की तलाश से आ जुडनेवाला कथ्य नारी की स्वतंत्रता पर ज़ोर देता हुआ उसे अपना रास्ता चुनने का अधिकार दिलाना चाहता है । "न स्त्री स्वातंत्र्यम इति" वाली पुरानी मान्यता को उखाड फेंककर उसी के स्थान पर मुक्तिगामिनी नारी की बहुरंगी चेतना को प्रतिष्ठित करने का प्रयास इन प्रतिनिधि उपन्यासों में परिलक्षित होता है । यह परिवर्तन की नई दिशा का सूचक है ।

मूल्यनिषेध और अराजकता

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों की रचनाधर्मिता के साथ अराजकता के कई पक्ष जुडे हुए लगते हैं । मूल्यगत अराजकता, भ्रष्ट दृष्टिकोण आदि के परिणामस्वरूप जन्म लेनेवाली विडम्बनात्मक स्थितियाँ प्रस्तुत करने-वाली रचनाओं में "उखड़े हुए लोग", "कड़ियाँ" और "आतंक" विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है । अराजकता वह स्थिति है जहाँ पूर्व स्वीकृत मान्यताओं के अभाव में मनमानापन और पाशविकता स्वीकारी जाती है । इसके साथ कुछ ऐसी भ्रष्टमान्यताएँ भी उभरती है, जो प्रभुता, सत्ता और स्वार्थ की प्रतिष्ठा में सकारात्मक भूमिका अदा करती है ।

उखडे हुए लोग (1956)

"उखडे हुए लोग" में राजेन्द्र यादव ने उस भ्रष्ट राजनेता की कहानी प्रस्तुत की है जो कुर्सी के बल पर कुर्सी को कायम करने के लिए कुर्सी का खेल खेलता है और बहुत सारे लोगों को गिराकर अंत में नैतिकता के रक्त का पान करता है । देशबन्धु उन राजबन्धुओं का प्रतीक है जो अपने देशमहल में सभी प्रकार के काले कारनामे कराते हैं । औरतों को फँसाता है, पत्नियों से पतियों को छीनता है, माँ के साथ बेटियों को रखैल बनाता है और सभी कुकर्मों को, त्याग, बलिदान और स्वतंत्रता संग्राम जैसे शब्दों की अर्थहीन आवरणों से ढक देना चाहता है । "सूरज" के शरद से "होटल डी पैरिस" के बारे में कहे गए ये शब्द ध्यान देने योग्य है "और देखिए - यह

होटल आप देख रहे हैं उसके बिज़नैस का वह घृणित रूप है जिसे बहुत कम लोग जानते हैं - इसका नाम है - "होटल डी पैरिस" । सैकडों उसके एजेण्ट हैं- गाँवों से, शहरों से, भूले भटके या भटकाकर लाए हुए "शिकार" यहाँ रखते हैं..... यह सब बातें ऊपर से नहीं दिखाई देती शरद बाबू । ऊपर खद्दर का चोगा है, जो तिरंगा है । यह सब ठाठ-बाठ नेतागिरी चलाने को बडी अकल और तिकडमें चाहिए ।"[1]

स्वदेश महल का देशबन्धु राजनैतिक भ्रष्टता का, शोषण का और अमानवीयता का प्रतीक है, जो खुद नैतिकता से उखड़ गया है और जो दूसरों को भी उखाड़कर फेंकना उचित समझता है । इस साजिश से बच निकलनेवाले दो ही व्यक्ति है शरद और जया । सात दिनों के शोषणग्रस्त जीवन से स्वदेश महल से दोनों भाग निकलते हैं । मायादेवी रखैल बनकर जीने के लिए अभिशप्त है तो उसकी पुत्री पद्मा अपनी जान देकर इस आतंक से अपने को बचा देती है । देशबन्धु की हवस के शिकार रूपा दर, "होटल डी पैरिस" में लाई जानेवाली लडकियाँ, कॉलेज की प्रिंसिपल, मायादेवी आदि राजनैतिक नेताओं के शोषण की भूमिका का स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत करती है ।

प्रतिभा के शोषण का पक्ष संपादक सूरज, शरद आदि के प्रति किए जानेवाले व्यवहार से संपन्न होता है । मूल्यों की इस श्मशान भूमि पर खडे होनेवाले देशबन्धु की नैतिक अराजकता और हवस पुत्रवधू को

---

1. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 395

भी बचने नहीं देती । वेतन के बारे में पूछने पर देशबन्धु शरद से दिल के दौरे का बहाना बनाता है "जब से दौरा पडा है, मुझे होश तो अपना नहीं । पता नहीं कब यह हार्ट-फेल कर जाय..... और तूझे व्यक्तिगत बात करने की लगी है ।"[1]

कुल मिलाकर "उखडे हुए लोग" उपन्यास की मूल्यगत अराजकता समसामयिक जनजीवन में फैली हुई भ्रष्टता का और उससे जनित आतंक का स्वरूप प्रस्तुत करती है । वैसे "उखडे हुए लोग" उपन्यास की स्थितियाँ एक प्रतीकात्मक सूचना हमारे सामने रखती है जो आगामी शताब्दियों में सारे देश में फैल सकती है । क्योंकि, नैतिकता से रहित सत्ता की चाबूक उन लोगों पर पडती है जो हर दृष्टि से पीडित हैं, शोषित है, दमित है और असंघटित है । इस दृष्टि से यह उपन्यास भारत के आगामी जीवन में घटित होनेवाली संभावनाओं के प्रति हमें सतर्क करता है । वस्तुत: अराजकता का जन्म, मूल्यनिषेध और सत्ता के नशे से होता है, जिसका समाधान ढूँढना बहुत ही कठिन है ।

कड़ियाँ (1970)

भीष्म साहनी के उपन्यास "कड़ियाँ" में मूल्यनिषेध और नैतिक अराजकता का स्वरूप उभरता है । पति और पत्नी के बीच का संबंध कच्चे धागों का नहीं होना चाहिए । उपन्यास में नायक महेन्द्र अहंग्रस्त

---

1. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 199

और स्वार्थ भी है । झूठी मान्यताओं का नकाब ओढ़कर वह अपनी पत्नी को ही नहीं, अन्य महिलाओं को भी शोषण का शिकार बनाता है और एक के बाद दूसरी शारीरिक तृप्ति की खोज करता हुआ निकल पड़ता है । परिवार का विघटन, पत्नी पर आरोप, तीसरी महिला का शोषण आदि से गुज़रते हुए वह एक ऐसी सीमारेखा पर पहुँचता है जहाँ नैतिकता नामक कोई चीज़ नहीं रह जाती है ।

महेन्द्र अपनी पत्नी प्रमिला से झगडकर ऑफिस के क्लर्क सुषमा के साथ संबंध जोडता है । पत्नी उसे अपने लिए अनमेल सी लगती है । पदोन्नति प्राप्त होने पर सुषमा को भी छोड देने में उसे कोई हिचक नहीं होती । बेटा पप्पू भी उसके लिए कोई महत्व नहीं रखता । माता-पिता के अनबन, विशेषकर मारपीट का बालक के विकास पर अत्यधिक प्रभाव पडता है । "महेन्द्र अपने बचपन में माता-पिता की चिल्लाहट को याद कर कहता है - "पप्पू की भी यही दशा होगी, ज़िन्दगी भर के लिए पंगू बन जाएगा ।"[1] यह जानते हुए भी वह पप्पू के लिए प्यार और सुरक्षा का भाव जगाने का कोई भी काम नहीं करता । वैचारिक स्तर पर जो अन्तर है प्रमिला और महेन्द्र में उसके परिणामस्वरूप होनेवाली लडाई का पप्पू पर गलत प्रभाव पडता है । यह प्रसंग इसका प्रमाण है "पप्पू ने पिता महेन्द्र को माँ को मारते देखा, उसका गर्जन सुना- वह पहले तो चुपचाप खडा रहा, फिर ऊँचा-ऊँचा रोने लगा । महेन्द्र ने उसके भी दोनों हाथ पकडकर झिंझोड़ दिए -

---

1. कड़ियाँ - भीष्म साहनी - पृ.51

बच्चा बुरी तरह से डर गया ।"[1] पति-पत्नी के बीच के झगडे का तनाव बच्चे पर न होने के लिए पप्पू को महेन्द्र होस्टल भेज देता है । वहाँ भी उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि आवश्यक स्नेह और सुरक्षा उसे कहीं भी प्राप्त नहीं होती । "इसमें मुख्य कथा नायक महेन्द्र के विवाहेतर यौन संबंधों की है किन्तु कुछ संकेत महेन्द्र और प्रभिला के असहज दाम्पत्य संबंधों के बीच पलने वाले पप्पू के व्यवहार की समस्याओं के भी है ।"[2]

महेन्द्र की पत्नी प्रभिला में भारतीय परंपरावादी नारी से नारी की नयी भूमिका को अपनाने की क्षमता का क्रमिक विकास दिखाई पडता है । पूजापाठ में विश्वास करनेवाली आदर्श भारतीय पत्नी के रूप में प्रभिला जीवन में असफल हो जाती है । महेन्द्र के द्वारा उपेक्षित होकर वह अंदर से टूट जाती है और दूसरे बच्चे के पितृत्व को भी अस्वीकार करनेवाले महेन्द्र के कारण वह पागल बन जाती है । किन्तु बच्चे के जन्म से उसमें एक नई चेतना जाग उठती है । आघातों ने उसे स्वावलंबी बनाया है । सुषमा भी महेन्द्र को छोडकर अपनी नौकरी को पक्की करने के लिए वर्मा से संबंध जोडती है । उपन्यास के अंत तक आते-आते महेन्द्र का नैतिक अराजकतावादी जीवन उसे कहीं-का नहीं रह जाने की स्थिति में पहुँचाता हुआ दिखाई पडता है ।

---

1. कडियाँ - भीष्म साहनी - पृ. 28
2. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में बाल मनोविज्ञान - डा. सुकृता अजमानी - पृ. 180

महेन्द्र पत्नी को छोडकर सुषमा से जुडता है और बाद में उसको भी छोडकर दूसरे किसी की खोज में निकल पडता है । पति परित्यक्ता प्रमिला के सामने मुसीबतों का तूफान खडा होता है । जिसके परिणामस्वरूप उसे पागलखाने में भी जाना पडता है । दूसरे बच्चे की माँ बनने के बाद अपने पैरों पर खडे होने का संकल्प लेकर प्रमिला एक नई महिला बनकर उभरती है । जबकि महेन्द्र सारे मूल्यों को रौंदता हुआ परिवार, पत्नी और बच्चों के रिश्ते को तोडता हुआ उसके प्रति प्रेम दिखानेवाली सुषमा को अपने रास्ते से अलग करता हुआ एक पागल कुत्ते के समान दिशाहीन होकर भागता फिरता है । कड़ियाँ टूट जाती है और नई कड़ियों के बनने की प्रतीक्षा मात्र रह जाती है । अराजकता के कगार पर खडे होनेवाले पुरुष के द्वारा सर्जित जीवन की स्थितियाँ विभीषिकायुक्त बन जाती है । यही आधुनिक समाज का एक अभिशाप बन जाता है ।

आतंक (1972)

समसामयिक जीवनबोध का एक और प्रमुख पक्ष है "आतंक"। शहर हो या गाँव सामान्य व्यक्ति की ज़िन्दगी इस आतंक से मुक्त नहीं हो पाती । शहर की ज़िन्दगी, विशेषकर आज के ज़माने में गुण्डों की अमानत बन गई है । इस उपन्यास में राजनैतिक नेता शर्मा से प्रदत्त सत्ता की सुरक्षा में पनपनेवाले मक्खनलाल जैसे गुण्डे की कहानी है । उसके साथ ही साथ आदर्श के सामने हिचक अनुभव करनेवाले मध्यवर्गीय प्रोफेसर डा. कपिला तथा जीवन की मज़बूरियों के कारण गुण्डागर्दी का साथ देने के लिए मज़बूर होनेवाले बलराम आदि की कहानी प्रस्तुत हुई है । मक्खनलाल अपनी पत्नी

दर्शना की हत्या करते हुए तथा कैलाश जैसी युवति को फँसाते हुए खैरू की हत्या करते हुए भी समाज में किसी भी कठिनाई के बिना जीवन बिताता है । शर्मा जैसे राजनैतिक नेता उसके बच निकलने का मार्ग भी ढूँढ निकालता है ।

बलराम एक निम्नमध्यवर्गीय युवा है, जो अपने घर की बुराइयों से भागने के लिए मज़बूर हो जाता है । पिता और मदन के बुरे व्यवहारों को सहने के बाद जब भाभी के साथ पिता के संबंध - मदन की अनुभूति से होती है - तो वह माँ और परिवारवालों को लेकर घर से निकलता है । किन्तु कुछ दिनों के बाद माँ और परिवारवालों को अपने जीवन में बाधा समझकर वहाँ से फिर पिता के घर जाने के लिए मज़बूर करता है । खैरू के अत्याचारपूर्ण व्यवहारों के शिकार होते हुए भी वह खैरू का विरोध नहीं कर पाता । जब अपनी आँखों के सामने खैरू की हत्या होती है गवाही देने की नौबत आती है तो वह शर्माजी के प्रभाव में आकर आदर्श पुलिस अफ़सर से कहता है "इस केस में गवाही देने में मेरी भलाई नहीं है । किसी भी दृष्टि से यह ठीक नहीं है । इसमें बहुत जोखिम है, बहुत खतरा । आप मुझे क्षमा करेंगे । मैं गवाही नहीं दे सकूँगा ।" बाद में बलराम को सच्चे आतंक की बात ध्यान आती है "उसे लगा, वह भयभीत हो गया है । पहले वह चिंतित भर था । पर अब..... अब वह वास्तविक भय का सामना कर रहा था । ठाकुर वीरबहादुरसिंह चले गए, तो कौन बचा ? मक्खनलाल और शर्माजी ।..... भयभीत होने की बात तो अब थी ।"[1]

---

1. आतंक - नरेन्द्र कोहली - पृ. 195

डा.कपिला एक मध्यवर्गीय प्रोफेसर है । वह आदर्श को महत्व देते हुए जीने की आशा में है । किन्तु अराजकता के समाज के सभी स्वरों पर फैल जाने के कारण उसको अपने आदर्श के विरुद्ध कई काम करने पडते हैं । कालेज में विद्यार्थी को नकल करते हुए पकडने के बाद उनके ऊपर हमला करने की बात पुलिस में वह रिपोर्ट नहीं करता । वह इसका कारण यह बताता है कि विद्यार्थी आखिर विद्यार्थी होता है और क्षमा करना अध्यापक का धर्म है । वह पत्नी शारदा के सामने व्यक्त करता है "पुलिस में रिपोर्ट", "तुम नहीं जानती हो शारदा, मैं उन दिनों क्या-क्या सोचता रहा हूँ । मेरे शरीर को चोट लगी है, मुझे भरे बाज़ार में अपमानित होने की पीडा चीरती रहती है ; और अपने सिद्धांतों से गिर जाने के कारण सबसे अधिक मेरा मन टूटा है । पर मैं इतनी हिम्मत नहीं बटोर पाता कि पुलिस से रिपोर्ट करने की बात सोचूँ । अपने लिए मैं अब नहीं डरता । " मैं अब हूँ ही नहीं । मैं केवल अपने प्रति उत्तरदायी नहीं हूँ । केवल अपनी बात होती तो शायद मैं आत्मघात कर लेता । पर मैं तुम्हारे प्रति और तुमसे ज़्यादा निकुंज के प्रति उत्तरदायी हूँ । मुझे उसके सिर से सुरक्षा का हाथ हटा लेने का कोई अधिकार नहीं है । मैं सोचता हूँ, मैं ने पुलिस में रिपोर्ट कर दी और उन बदमाशों ने मुझे मार डाला या पंगू कर दिया तो तुम्हारा और निकुंज का क्या होगा ।"[1]

शर्माजी और मक्खनलाल और शर्मा के गुण्डों ने समाज को अराजकता से भरपूर बनाए रखा है । शहर का गाँव का हर व्यक्ति ऐसे

---

1. आतंक - नरेन्द्र कोहली - पृ. 176

सत्ताधारी नेताओं से और उनके गुण्डों से जान बचाकर निकल जाना चाहता है । इस लिए सभी प्रकार की अनीतियों का सहन करते हुए, नैतिकता को दम तोडते देखते हुए, व्यवस्था को टूटकर बिखरते हुए देखते हुए मौन साधते हैं । और कायरों की ज़िन्दगी जीते हैं । यही महा-आतंक की काली छाया के नीचे दफनाए गए आधुनिक मनुष्य की ज़िन्दगी का दर्दनाक पक्ष है । अपराध, डकैती, छीनाछपडी, लूटमार, दंगे फैसाद, हत्या आदि इस आतंक को बनाए रखनेवाले शहर के कारनामें है । किस क्षण किस व्यक्ति के प्रति क्या होगा इसका निर्णय कभी नहीं किया जा सकता । भय और त्रास से युक्त व्यक्ति संघर्षों को छिपाकर, अपनी आँखों को बन्द कर जीने के लिए मज़बूर है । "आतंक" उपन्यास का प्रतिपाद्य यही है ।

प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यासों में दृष्टिगत होनेवाली विविध स्थितियों के आधार पर स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध में आए हुए परिवर्तन की दिशाओं का सही स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट होने लगता है । मूल्य रूपायन में उन सभी स्थितियों का योगदान है जो राजनीतिक, सामाजिक, वैयक्तिक और अराजकतापूर्ण परिवेश से जुडे हुए है । रचनाकार की मूल अन्तश्चेतना इन्हीं सप्रासंगिक भूमिकाओं से प्रभावित है और रचना की प्रक्रिया इस विविधात्मक बोधवत्ता का परिणाम है । जितने भी परिदृश्य उपन्यासों के अन्दर प्रकट होते हैं वे सब समसामयिक मूल्यबोध से और मानवीय प्रतिक्रिया से प्रचलित है । अतः जीवन्तता की दृष्टि से उपर्युक्त रचनाएँ सार्थक बन जाती है और समाज की विशेष पहेलियों से जुडकर सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है ।

जहाँ तक प्रतिबद्धता का सवाल है रचनाधर्मिता मूल्यबोध से जुड़कर ऐसी कथ्यात्मकता को रूपायित करती है कि समसामयिक जीवन में उनका अर्थपूर्ण पक्ष उभरने लगता है । इस दृष्टि से छठवें, सातवें और आठवें दशक के उपन्यास महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है ।

तीसरा अध्याय

परिवर्तित जीवनदृष्टि के आयाम

परिवर्तित जीवनदृष्टि के आयाम

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास के मूल्यबोध पर विचार करते समय, जीवनदृष्टि में आए हुए परिवर्तन पर प्रकाश डालने की ज़रूरत है । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय जनजीवन में आए हुए परिवर्तनों ने एक बडी सीमा तक जीवन को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों दृष्टियों से प्रभावित किया है । आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक स्तर पर जहाँ एक ओर विकास हुआ तो दूसरी ओर व्यक्तिस्वार्थ, भौतिकांत मनोवृत्ति आदि ने शाश्वत मूल्यों को नकारने की भावना को भी उजागर किया । इसके परिणामस्वरूप जन्म लेनेवाली मानसिकता का प्रतिफलन समूची रचना-प्रक्रिया में परिलक्षित होता है ।

इस काल में रचे गए उपन्यासों में, समाज में नए ढंग से उभरनेवाली अवधारणाओं का सशक्त चित्रण मिलता है । पुरानी मान्यताओं की अप्रासंगिकता परिवर्तित कथा स्थितियों से जोडकर अंकित करते समय उपन्यासकारों ने मूल्यों की आदर्शात्मक स्थितियों को और उनके यथार्थ के पक्ष को तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है । कई कथ्यात्मक स्थितियाँ समय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर समाज की सच्चाइयों को स्वीकारती हुई रूपायित हुई है । यह विशेष महत्व की बात है ।

इस अध्याय के आरंभ में भारतीय परंपरागत मान्यताओं का विवेचन एवं मूल्यों के आदर्शात्मक पक्ष का प्रस्तुतीकरण हुआ है । उसके बाद

भारतीय सामाजिक परिवेश में आए हुए बदलाव के कारण जन्मी हुई समसामयिक मूल्यबोध की अवधारणा का भी स्वरूप आंकने का प्रयास किया गया है । बाद के शीर्षकों के अंदर उपन्यासों में आई हुई स्थितियों के आधार पर मूल्यबोध की प्रासंगिकता को और उसकी अप्रासंगिकता को रेखांकित किया है ।

1. परंपरागत जीवनदृष्टि :-

वैसे परंपरागत जीवनदृष्टि और उसकी प्रासंगिकता आज की रचना प्रक्रिया में कम महत्वपूर्ण बनती जा रही है । क्योंकि परंपरागत जीवनदृष्टि के सकारात्मक पक्ष आज अव्यावहारिक बनते जा रहे हैं । इसके बावजूद आज भी उन मूल्यों के प्रति आस्था रखनेवाले लोगों का पूर्ण रूप से अंत नहीं हुआ है । परंपरा को माननेवाले, धर्म और नैतिकता को अर्थ और काम की प्राप्ति से अधिक महत्व देते हैं । इसलिए भारतीय परंपरागत दृष्टि सर्वकल्याण के लक्ष्य को सामने रखकर चलती है । दूसरे के प्रति सहानुभूति दिखाना सहजीवि के अधिकारों को सुरक्षित रखना, करुणा और त्याग के आधार पर जीवन को व्यवस्थित करना, आत्मत्याग से जनहित की रक्षा करना, ये सब ऐसी मान्यताएँ हैं, जो परंपरा से हमारे मूल्यों की आधार शिलाएँ बनी हुई है । विश्वबंधुत्व की भावना, सह-अस्तित्व का महत्व, स्नेह और सद्भावना, समूची भारतीय जीवनदृष्टि का आधार माने गए हैं । इसतरह परंपरागत जीवनदृष्टि स्वार्थ का निषेध करके परार्थ का समर्थन करती आई है ।

पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों ने अधिकतर इस आदर्शात्मकता की सीमारेखा के अंदर अपनी रचना को समेटने का प्रयास किया था । समूची रचनाधर्मिता मूल्यसंरक्षण की दृष्टि को स्वीकारती हुई समाज में विद्यमान काले धब्बों को छिपाती रही । इस कारण यथार्थ के नग्न स्वरूप को और मूल्यतिरस्कार की संभावनाओं को खुल्लम-खुल्ला प्रस्तुत करने में पुरानी पीढ़ी के लेखक हिचक महसूस करते रहे । इसको सामाजिक प्रतिबद्धता या आदर्शात्मकता या जनहित की रक्षा आदि भावनाओं के अन्दर छिपाकर रचनाओं को रूपायित करते आये । वैसे यह झूठी और आत्मवंचनापरक रचना प्रक्रिया रही थी । स्वातंत्र्योत्तरकालीन रचनाओं में इसका विरोध हुआ और आदर्श और मूल्य संरक्षण की प्रवृत्ति का महत्व अस्वीकारा जाने लगा ।

वस्तुतः परंपरागत जीवनदृष्टि का समर्थन द्विवेदीयुगीन रचनाओं में प्रमुख रूप से मिलता है । साहित्य की निर्माणकालीन अन्तरधारा इस काल के उपन्यासों को यथार्थ से दूर रखकर आदर्श का जामा पहनाती है । उसका कारण यह भी है कि द्विवेदीयुग से पूर्व के तिलस्मी, ऐय्यारी, जासूसी रचनाओं के प्रति विरोध दिखाने का दायित्व उपन्यासकारों पर पडा था । प्रसाद से लेकर प्रेमचंद तक के रचनाकारों ने समसामयिक जीवन को समस्याओं के अन्दर रखकर, समस्याओं के आदर्शात्मक समाधान का पक्ष लिया था । प्रेमचंद की रचना प्रक्रिया "सेवासदन" से "गोदान" के पूर्व तक इसी समस्या के और उसके समाधान के भार से दबी हुई लगती हैं । उनके सामने ग्रामीण समाज था, परिवार की समस्याएँ थी, विधवा और वेश्या की समस्या थी, अनमेल विवाह थे, शोषण का बोलबाला था । इन समस्याओं का प्रतिपादन उनके समाधान को सामने रखकर ही होता रहा । इस कारण जनजीवन के सही स्पन्दनों को

और मूल्यनिषेध की स्थितियों को कई दृष्टियों से द्विवेदीयुगीन रचनाकारों ने अनदेखा कर दिया था । सिर्फ "गोदान" में ही यथार्थ का और उससे जनित संघर्ष का समाधान ढूँढने के कार्य के भार को प्रेमचन्द ने अपने कंधों से उतार दिया था । यहाँ से सच्चाई के, मूल्यपरिवर्तन के और संघर्ष के, स्पष्ट चित्र धीरे-धीरे उपन्यासों में उभरने लगते हैं । परंपरागत दृष्टि को बनाए रखने में जैनेन्द्र, इलाचन्द्रजोशी जैसे रचनाकारों ने कोई विशेष प्रयास तो नहीं किया, फिर भी उनमें प्रतिबिम्बित जीवन और दर्शन, मनोविज्ञान की सीमाओं से आबद्ध होकर अयथार्थपूर्ण हो जाता है । समानांतर रूप से लिखे जाने वाले वृन्दावनलालवर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में देशप्रेम की भावना को बनाए रखने की कोशिश ही दृष्टिगत होती है । संघर्ष का थोडा सा आभास यशपाल के इस कालखण्ड की रचनाओं में प्राप्त होता है जिसका विकसित पक्ष को लेकर स्वातंत्र्योत्तर काल में "झूठा सच", "मेरी तेरी और उसकी बात" जैसी रचनाओं का प्रस्फुटन होता है ।

उपर्युक्त रचनाप्रक्रिया की यह विशेषता रही है कि परंपरागत मूल्यों का संरक्षण प्रेमचन्द तक होता रहा । तो थोडा सा ढीलापन प्रेमचन्द के बाद की रचनाओं में दृष्टिगत होता है और यशपाल तक आते आते विरोध का पक्ष परोक्ष रूप में उभरता दिखाई पडता है । स्वातंत्र्योत्तरकालीन रचनाओं में मूल्यनिषेध के पक्ष एकदम तो नहीं उभरते फिर भी धीरे-धीरे उनका विकास होने लगता है । अज्ञेय भोगा हुआ यथार्थ को लेकर इस विरोध की प्रथम तस्वीर उभारते हैं । यहाँ से परंपरागत दृष्टि के प्रति रचनाकार की प्रतिबद्धता धीमी पडने लगती है ।

2. समसामयिक दृष्टि की विशिष्टता :-

समसामयिक जीवनदृष्टि, परंपरागत दृष्टि से कुछ बदली हुई सी लगती है । समसामयिक दृष्टि की विशिष्टता व्यक्तिस्वार्थ के असीम पक्षों को उभारकर रखती है । इसमें वे सारे तथ्य समाहित हो जाते हैं, जिनके आधार पर आज की ज़िन्दगी बोझिल, संघर्षमय और संकटबोधक बन जाती है । नगरीकरण की समस्या, यांत्रिक सभ्यता का विकास, अर्थतत्व की प्रतिष्ठा, संयुक्त परिवारों का विघटन, अकेलेपन का एहसास, असहाय अवस्था का बोध, त्रासयुक्त जीवनस्थितियों का भोग और शांति की खोज, मनुष्य के जीवन को वितृष्णा और विडंबना से भरपूर कर देते हैं । इस स्थिति में समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक अकेली लडाई लडता है । यह लडाई कभी समाज की विभीषिकाओं के प्रति हैं, तो कभी अपने आप से ही । त्रासयुक्त जीवन के स्थितियों के बीच हरेक व्यक्ति को अपनी छाया भी डरावनी लगती है । संघर्ष के अनदेखे, अनजाने सड़कों पर जीत हासिल करने के लिए च्युत मूल्यों के बाण चलाने पडते हैं, जिनका निषेध, नीति, धर्मशास्त्र और मानवीयता करते आए हैं । कभी-कभी समसामयिक जीवन को भोगनेवाले स्त्री-पुरुष अजनबी स्थितियों का शिकार बन जाते हैं, जहाँ से बच निकलना उनके लिए नामुमकिन हो जाता है । ऐसी स्थिति में अपने-अपने बंद कमरों में, घोंसलों में, आँखें बंद करके पडे रहने के सिवा उनके पास और कोई उपाय नहीं रह जाता । मूल्य विघटन या नए मूल्यों की स्वीकृति का उपक्रम परिवेशजन्य प्रतिक्रियाओं का परिणाम है, जिसका वरण करने के लिए समसामयिक समाज का व्यक्ति अभिशप्ता सा हो जाता है । इस विशिष्ट धरती पर आकर व्यक्ति अहिंसा को तिलांजलि देता है, हिंसा को अपनाता है, सत्य का गला

घोंट देता है और असत्य का सहारा लेता है । नैतिकता के शव पर खडा होकर अनैतिक कार्यव्यापारों के स्वप्नों को साकार बनाता है और अपने समस्त व्यक्तित्व को अपने शिवत्व को और मंगलमयी दृष्टि को ध्वस्त करते, भौतिक उन्नति के खंजरों को प्राप्त करता है, जिसका प्रयोग वह समय-समय पर सहजीवियों पर करता है । परिणामस्वरूप सारा समाज अव्यवस्थित, सारी दृष्टि आतंकपूर्ण और सारी परंपरागत मान्यताएँ डरावनी बन जाती है ।

3. पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता :-

समसामयिक समाज में पुराने मूल्य अप्रासंगिक बन गये है। आज की स्थितियों में जीवन बिताते समय व्यक्ति यह महसूस करता है कि आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह गया है । सारे आदर्श कागज़ के नाव है, जिन पर बैठकर जीवन का सफर तय नहीं किया जा सकता । क्योंकि सागर के इर्द-गिर्द ऐसी तूफानी लहरें हैं, जो भौतिक प्रेरणाओं की गहराइयों से धरती को लीलने के लिए ऊपर की ओर उड़ती हैं । तब ऐसी स्थितियों से जूझने के लिए छल-कपट, फरेब, धाँधली आदि के सहारे बनाई जानेवाली नौकाओं की ज़रूरत पडती है जिस पर मुखौटे लगाकर सफर करना एक महज आवश्यकता बन जाती है । समसामयिक जीवन को रूपायित करनेवाली परिस्थितियाँ व्यावहारिक दृष्टि से पूर्वमूल्यों को अप्रासंगिक सिद्ध कर देती हैं ।

पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता को सही दृष्टि से समझने-वाले उपन्यासकारों ने स्वातंत्र्योत्तरकालीन ज़िन्दगी की बदलती तस्वीर को और उसको अंदर से रंग प्रदान करनेवाली शक्ति को पहचानने की कोशिश की है । आलोच्य उपन्यासों में जन्म लेनेवाली संकल्पनाएँ इसका प्रमाण प्रस्तुत करती है । उपन्यासकारों ने हमेशा व्यक्ति की बेकसी को उसके एकाकी संघर्ष को एक ऐसे परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो अर्थ और स्वार्थ के दबाव से जन्म ले गया है । शहर, गाँव, परिवार और व्यक्तिसंबंध इन्हीं स्वार्थ और अर्थ से जुडी हुई आवश्यकताओं के परिणाम पर आधारित होते हैं । व्यक्ति का व्यक्ति से कट जाना, पत्नी का पति से अलग हो जाना, पिता-पुत्र के संबंधों का टूट जाना और किसी गंभीर आतंक की छाया में जीने को विवश हो जाना, अहंग्रस्त संघर्ष के लिए पति-पत्नी का एक-दूसरे के सामने अड़े रहना, संतान को अनाथ कर देना, राजनीतिक धाँधली के बल पर कुर्सी को कायम करना और जीने के एहसास को क्षणों तक सीमित कर देना कुछ ऐसी स्थितियाँ है जो पुराने मूल्यों की अप्रांसगिकता को रचना के अन्दरूनी तत्वों से जोड़ते हैं । आलोच्य उपन्यासों की परिस्थितियाँ यह सिद्ध करती है कि घटनाओं की विशिष्टता में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है, क्योंकि यह, वह समाज है जो पूरी तरह से बदल गया है और आगे भी बदलने की कोशिश में लगा हुआ है । परिवर्तन की इस महायात्रा में कुछ भी नहीं रूकता और व्यक्ति भी नहीं रूक सकता । ऐसी स्थिति में मूल्य कैसे रुक सकते हैं ?

उपन्यासों में प्रकट होनेवाली कई स्थितियाँ पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता को बडी प्रामाणिकता के साथ समर्थित करती है ।

रचनाकारों ने आलोच्य उपन्यासों में मूल्यों की अप्रासंगिकता को जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं के परिवेश में उजागर किया है । उदाहरण के रूप "उखडे हुए लोग", "यह पथ बंधु था", "कड़ियाँ" आदि उपन्यास की स्थितियाँ प्रस्तुत की जा सकती है । इनमें आए हुए पात्र एक सीमा तक पराजय के शिकार बने हुए हैं । उनकी अन्दरूनी कथा को पहचानने के लिए समूचे परिवेश को पहचानना आवश्यक बन जाता है । अपनी प्रतिबद्धता में किसी प्रकार की कमी के न होते हुए भी, अन्तःकरण की दृष्टि से सही फैसलों को लागू करने पर भी ये पात्र क्यों पराजित हुए, यह एक पेचीदा सवाल है । इस सवाल का जवाब ढूँढने के लिए उपन्यासकारों के साथ समीक्षकों को भी सामाजिक चेतना के बदलते आयामों की प्रतिक्रिया का अर्थ ढूँढना पडेगा ।

"उखड़े हुए लोग" उपन्यास में असफलता को गले से लगाने-वालों में सबसे प्रमुख पात्र है सूरज । इस पात्र की जीवनगाथा कई ऐसे मोड़ों से गुज़रती है, जहाँ पुराने मूल्य ही रास्ते के चिराग बने रहते हैं । उनकी रोशनी में सूरज बदलाव से जन्म लेनेवाली परिस्थितियों को नहीं समझ पाता । अपने मकान के मालिक की पुत्री चन्द्रा से प्यार करके भी शादी करने की हिम्मत न दिखाना, इस रोशनी का परिणाम है । आदर्शों को गले से लगाकर चलने के कारण देशबन्धु के साथ जीते-जीते उसे हर कदम पर पराजित होना पडता है । अपने लहू-पसीने से लेखनी की सशक्तता से "बिगुल" की आवाज़ को बुलन्द करते समय भी सूरज उसी के कोने में कहीं पडा रहता है । "बिगुल" की आवाज़ को सब सुनते हैं, सूरज की आवाज़

को कोई नहीं सुनता । वह गले की स्वरतंत्रियों की गहराई में कहीं अवरुद्ध हो जाती है । सूरज की ज़िन्दगी में आया हुआ यह अवरोध पुराने मूल्यों को स्वीकारने के कारण हुआ है । समय की गति को पहचानना और उसी के अनुसार मूल्य अवधारणा में परिवर्तन लाना उसके लिए स्वीकार्य नहीं बनता । इसी का परिणाम कहीं-कहीं निष्क्रियता में होने लगता है और यह निष्क्रियता उसकी ज़िन्दगी को भी सुला देती है । "नीचे से आत्मा कोंचती है, इच्छा और सपनों की बाढ़ें आती हैं, वलवले उठते हैं - और ऊपर से इस जैसे दैत्य अपने सिंहासनों के पाये हमारी छातियों पर रखकर ठाठ से ऐश कर रहे हैं । दम घुटते हैं, तड़फड़ाते हैं, भटकते हैं और तरह-तरह के दर्शनों से अपने भीतर की उबलती उफनती जीवनी-शक्ति को पुचकार कर सुलाने की कोशिश करते हैं ।"[1]

पराजय की अंतिम छोर तक पहुँचते-पहुँचते जब वह जागने की कोशिश करता है तब तक बहुत देर हुई होती है । देर से कर्मण्यता के पथ पर आते हुए मज़दूरों की समस्या को सुलझाने के लिए जब वह तैयार होता है और "बिगुल" की आवाज़ को बुलन्द करता है, तब उसका विद्रोह परिवर्तित मूल्य के विरुद्ध ही खडा होता है । इसके परिणामस्वरूप उसे नौकरी से हाथ धोना पडता है । देशबन्धु का कुछ न बिगाडकर अपने को बर्बाद करना ही अंतिम रूप में इसका नतीजा निकलता है ।

---

1. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 395

अपनी प्रेमिका चन्द्रा की आँखों में "पागल नौकर" बननेवाला सूरज, सच्चाई को बहुत देर से ही पहचान पाता है । चन्द्रा अपने पति के साथ जब शान-शौकत के साथ घूमती है तब सूरज अपनी दयनीय स्थिति का अनुभव करता है । यदि समय पर चन्दा को लेकर कहीं भाग निकलता तो ये सारी बातें देखने की नौबत नहीं आती । अपने आदर्श पर अड़िग रहने के कारण ही उसे ये सब सहना पडता है । दूसरी किसी औरत के साथ संबंध जोडने के लिए भी यही पुरानी आदर्शवादिता उसे छूट नहीं देती । वस्तुतः इसी पुराने मूल्यबोध के कारण ही सूरज का जीवन तबाही का पर्याय बनता है । चन्दा के प्यार की असलियत जानकर उसमें समझदारी आ जाती है "उसे प्यार करने से पहले मुझे अपनी ओर भी तो देखना चाहिए था ; मेरा न घर था, न बार, न माँ का पता, न बाप का ।..... मुझे अपनी मूर्खता पर आश्चर्य होता, कैसे उस आसमान के चाँद के लिए मैं बौना मचल पडा था ?"[1]

परोक्ष रूप में उपन्यासकार ने इस पात्र के माध्यम से पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता की सफल टिप्पणी प्रस्तुत की है । समय के साथ आनेवाले बदलाव को समय के रहते हुए स्वीकारना ही बुद्धिमत्ता है ।

"यह पथ बन्धु था" एक ऐसा उपन्यास है जो फिर एक बार पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता की चेतावनी देता है । उपन्यास का

---

1. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 270

समूचा घटनाचक्र एक महान असफलता के इर्द-गिर्द रूपायित होता है । श्रीधर बाबू एक ऐसा पात्र है, जो यौवन के जोश के साथ देशभक्ति की मदिरा से बेहाल हो जाता है । इस मदोन्मत्त स्थिति में देशमुक्ति के स्वप्नों को साकार करने के लिए अच्छी सी नौकरी, सुन्दर पत्नी और प्यारे बच्चों को छोडकर संग्राम के क्षेत्र की ओर कूच करता है । इस फैसले को लागू करते समय वह आगे-पीछे कुछ नहीं देखता । उसका आदर्श यह कहता है कि अपना सबकुछ न्योछावर करके देश को आज़ाद बनाना होगा । किसी भी प्रकार के समझौते के लिए वह तैयार नहीं होता । कष्टों को झेलते समय भी स्वार्थी लोगों के खेमे में आते समय भी वह अपने आदर्श को कभी भी उपेक्षित करना नहीं चाहता । इस यात्रा में शायद वह अपने चारों तरफ़ होनेवाले परिवर्तन को नहीं समझ पाता । एक महान देशप्रेमी के लिए पत्नी, बच्चे, नौकरी जीवन के ऐश और आराम बाधक तत्व हैं । यह उसकी मान्यता है । दुर्भाग्यवश श्रीधर बाबू के समान सोचनेवाले नेता उसे कहीं भी नहीं दिखाई पडता । सभी लोग अपने-अपने दलों के निर्माण में लगे हुए है । हर कहीं साजिश है हर कहीं शोषण है, साजिश करनेवालों को और शोषण करनेवालों को गुटबन्दी में शामिल लोगों को वह भ्रष्ट समझता है । श्रीधर बाबू यह नहीं समझ पाता कि यह भ्रष्टता बदली हुई मूल्य की सीढी है और व्यावहारिकता की सफल कुंजी है ।

श्रीधर बाबू का रामखेलावन के शोषण में आ जाना और वहीं से नहीं बच पाना एक प्रश्नचिह्न बन जाता है । क्योंकि स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेनेवाले सब किसी-न-किसी प्रकार के नमूने मात्र हैं -

ठाकुर सकलदीप, नारायण सिंह और रामखेलावन जैसे लोगों । इस गिरोह में श्रीधर बाबू एक अजनबी है । स्वयं रामखेलावन की दृष्टि में श्रीधर बाबू आदर्शों के बोझ से दबा हुआ एक पागल व्यक्ति है जो हर कठिनाई को सहते हुए भी "शंखनाद" का प्रकाशन जारी रखेगा । "श्रीधर बाबू को सबेरे से शाम सिर उठाने की या दम मारने की भी फुर्सत नहीं होती । एक तरह से सारा अखबार वे ही लिखते थे ।..... रामखेलावन बाबू कहीं यह समझ गये कि यदि वे चाहे तो घर जाकर तान खूँटी सो सकते हैं और फिर भी "शंखनाद" निकलता रहेगा । क्योंकि श्रीधर बाबू के लिए पत्र अनिवार्यता थी ।"[1]

जब तक वह इन्दुदीदी से दुबारा नहीं मिलता, तब तक श्रीधर बाबू के दिल और दिमाग में आदर्श का नशा छाया ही रहता है जो सच्चाई को देख पाने में बाधक बना रहता है । इन्दुदीदी जब उसको बताती है कि उसका किया कराया हुआ सारा काम बेकार हो गया है । तब ही उसका नशा धीरे-धीरे उतरने लगता है । अपने कार्यों की ओर वह मुड़कर देखता है और वह खुद महसूस करने लगता है कि, कुछ हुआ है, जिसको होना नहीं चाहिए था । आदर्श और आदर्श के नाम पर किए जानेवाले सारे कार्य यथार्थ के धरातल पर, व्यावहारिकता के कगार पर शुद्ध मूर्खताएँ दिखाई पडने लगती है । तभी वह समय के बदलाव के स्पर्श का अनुभव करता है । "घर लौटते वक्त उसके विचारों में पुराने मूल्यों के

---

1. यह पथ बंधु था - नरेश मेहता - पृ. 539

अप्रासंगिक बनने से पराजित व्यक्तित्व की दीनता दिखाई पडती है "वैसे जिस अनुत्सवी ढंग से आये थे आज इतने बरसों बाद भी वे अनुत्सवी ढंग से ही "पुनर्मूशिकोभव" हो रहे थे । इतना संघर्ष व्यर्थ हो गया।..... सबने उन्हें एक सीमा के बाद निरर्थक समझ फेंक दिया । अपना संपूर्ण जीवन स्वास्थ्य कर्मठता काशी को सौंप वृद्ध, बीमार, असफल, निरर्थक बने मालवा की ओर लौट रहे थे ।"[1]

UNIVERSITY LIBRARY COCHIN - 682 022 COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

"यह पथ बंधु था" का श्रीधर धीरे-धीरे पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता का महसूस करता है और यह समझने लगता है कि उसकी पराजय के लिए एक सीमा तक उसके आदर्श ही जिम्मेदार है । वह लौटता है, वर्षों के बाद अपना यौवन और जीवन को लुटाकर, खुद तबाह होकर अपनी पत्नी और बच्चों को तबाह कर । पराजय की यह संपूर्ण गाथा की त्रासदायक स्थिति तब उभरती है जब उसकी पत्नी मरने के लिए उसकी राह देखती रहती है । "मेरी प्रतीक्षा सार्थक हुई न ? एक सुख के लिए कितना दुःख भोगना होता है । आप मुझे क्यों छोडकर चले गये थे ? आपने किसलिए मेरी इतनी परीक्षा ली ? कभी यह नहीं सोचा कि मैं टूट जाऊँगी ? इतना लांछन, इतनी प्रताड़ना, इतनी लौकिक - कालिमा.... नाथ.... ! अब मुझे ठाकुरजी को सौंप दीजिए । मैं बापू - माँ को न रोक सकी, गुनी को खंडित सौंप रही हूँ, पता नहीं मेरे किस पाप के कारण बेटी दुःख पा रही है । सुशीला सुखी है अपने घर । देवव्रत की मुझे चिन्ता थी लेकिन अब

---

1. यह पथ बन्धु था - नरेश मेहता - पृ. 565

वह ।"[1] इस प्रकार "यह पथ बन्धु था" की समूची घटनाएँ पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता को उभारकर रखती है ।

उधर भीष्म साहनी से रचित "कड़ियाँ" उपन्यास में जो समस्याएँ उभर कर आती है, वे पूर्ण रूप से पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता की ओर हमारा ध्यान खींचती है । इस उपन्यास की नायिका प्रमिला भारतीय पारिवारिक मान्यताओं की रक्षा करती हुई आदर्श पति-पत्नी संबंधों पर विश्वास रखती है । पूजा-पाठ, व्रतानुष्ठान आदि को महत्व देती हुई पति के सभी प्रकार की भलाई की कामना करती है । पुराने मूल्यों को गले से लगाकर जीने के कारण आधुनिक नारी के समान बन-ठन कर वह पति को आकर्षित करना नहीं चाहती । पति महेन्द्र, प्रमिला के इन गुणों का तिरस्कार करता है और उसकी सदियों पुरानी मान्यताओं को गँवार हरकत मानता है । पत्नी से अतृप्त रहने के कारण वह सुषमा जैसी महिला से संबंध जोडता है ।

आधुनिकताबोध से और शहर की सभ्यता से प्रभावित महेन्द्र अपने संबंध की सच्चाई का पर्दाफाश करके प्रमिला से झगडा मोल लेता है । प्रमिला में अडजस्टमेंट का अभाव है और अपनी संस्कारगत मान्यताएँ उसे पति से अलग रहने के लिए विवश करती है । परन्तु यह अलगाव फिर

---

1. यह पथ बन्धु था - नरेश मेहता - पृ. 58।

कभी समाप्त नहीं होता । पत्नी से दूर होकर महेन्द्र आज़ादी का अनुभव करता है और पति की चरित्रहीनता से प्रमिला कुढ़ती रहती है । इस प्रकार दोनों की दूरियाँ बढ़ती जाती है । आगे की घटनाओं का परिणाम प्रमिला को दुबारा महेन्द्र के संतान की माँ बना देती है । परन्तु पितृत्व से महेन्द्र इनकार कर देता है जिससे प्रमिला विक्षिप्त हो जाती है ।

इस उपन्यास में प्रमिला की पराजय की स्थितियाँ उसके पुराने मूल्यों के प्रति अड़िग रहने के कारण उभरती है । यदि पुरानी मान्यताओं को वह छोड देती और व्यावहारिकता की दृष्टि से अपने स्वभाव को संशोधित करती तो एक बडी ट्रेजेडी से अपने को बचा सकती थी । परिवार का टूट जाना, बच्चों की देखभाल की समस्या को कंधों पर लेना और विक्षिप्तता का शिकार बन जाना उसके मूल्यों की अप्रासंगिकता के सशक्त प्रमाण है ।

वैसे प्रमिला की चारित्रिकता और उसकी दृष्टि प्रारंभ में पति पर अधिकार जताने की है और पति को अपने अधीन बनाए रखने की रही है । स्थान-अस्थान पर पति को भला-बुरा कहना उसके अडजस्ट न कर पाने की मानसिकता का परिणाम है । "मगर तुम गये तो थे उसके पास ? क्यों गये थे तुम ? कितनी बुरी बात है । तुम गन्दी किताबें पढ़ते रहते हो, तुम्हारे दोस्त भी बुरे हैं । इसीलिए । मैं ने पहले भी कहा था ।"[1]

---

1. कड़ियाँ - भीष्म साहनी - पृ. 33

प्रमिला के विचार एक दृष्टि से समय की मान्यताओं के विरुद्ध है । पति-पत्नी के संबंधों को मारपीट की स्थिति तक ले आने में पत्नी का भी योगदान होता है । उस हालत पर पहुँचने के बाद फिर से सारा दोष पति पर मढ देना, समझौते के रास्ते को बंद करना है । कड़ियों के टूट जाने का यह एक और कारण है "इस घर पर कहर टूटेगा । तुम अपनी पत्नी को मारते हो । हमारे घर में मेरी माँ कभी नहीं रोयी थी । तुम बहुत बुरे आदमी हो । तुम ने बच्चे के सामने मुझे पीटा है, तुम बच्चे के सामने मुझे रुलाते हो, बच्चा क्या सीखेगा ?"[1] पति पर आरोप लगाने के साथ -साथ ही सेक्स की बातों को वह एक अनचाही और पापपूर्ण कार्य मानती है । यह उसकी पराजय का एक और कारण बनता है ।

कुलमिलाकर प्रमिला की मानसिकता और उसकी जीवनदृष्टि पुराने मूल्यों की रूढ़िगत मनोवृत्ति को अपनाने के कारण जन्म लेती है और यही उसकी पराजय की आधारशिला बनती है । "कड़ियाँ" उपन्यास में सुषमा एक ऐसी नारी की भूमिका निभाती है जो पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता को समझते हुए व्यावहारिक मूल्यों को अपनाती है । सुषमा महेन्द्र से प्यार करती है । यदि शादीशुदा व्यक्ति से भी उसे प्यार मिले वह उसके लिए सबकुछ न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाती है । महेन्द्र की खुशी के लिए किसी भी कार्य करने के लिए वह प्रस्तुत रहती है । उसका कहना है " मैं तुम्हारे कुछ नहीं माँगती, महेन्द्र । केवल कभी-कभी तुम्हारे

---

1. कड़ियाँ - भीष्म साहनी - पृ. 53

साथ दो घड़ियाँ बिताना चाहती हूँ । बस इतना ही । तुम्हारे वक्त से जो दो घड़ियाँ टूटकर मेरी गोद में पड़ जायें, मैं उन्हीं से संतुष्ट हूँ ।"[1]

बाद में जब महेन्द्र पत्नी प्रभिला को घर से निकालने के बारे में सोचता है, तब सुषमा उन दोनों के बीच एक बाधा नहीं बनना चाहती । वहाँ से तबादला प्राप्त करने की योजनाएँ बनाती है । "मैं तुम्हारी ज़िन्दगी को कठिन नहीं बनाना चाहती । मैं तुम्हारे परेशान चेहरा नहीं देख सकती । अगर तुम्हारे मन पर इतना ही ज़्यादा बोझ है तो मैं यहाँ से चली जाऊँगी । मैं जैसे-तैसे सह लूँगी । मैं तुम्हारा सुख देखना चाहती हूँ । तुम्हारे घर को तोडना नहीं चाहती ।"[2] जब महेन्द्र प्रभिला से संबंध तोडता है तब सुषमा उसके साथ शादी करने के लिए तैयार हो जाती है । किन्तु महेन्द्र उसके लिए तैयार नहीं होता ।

ऑफिस में प्रभिला की सहेली सतवंत के आने के बाद सुषमा का जीवन बहुत कठिन बन जाता है । दफ्तर के डिप्टी डायरेक्टर वर्मा सुषमा के प्रति आकृष्ट हो जाता है । वह भी उसका शोषण करना चाहता है । नौकरी के कन्फर्मेशन की बात बताने पर सुषमा से उसका कहना है तुम्हारा मामला महेन्द्र के कारण कुछ बिगड गया है । अभी ठहर जाओ, वक्त आने पर ठीक कर दूँगा ।

---

1. कड़ियाँ - भीष्म साहनी - पृ. 12
2. वही - पृ. 82

घटनाओं में आने वाले हेर फेर को और उससे जनित प्रतिक्रिया को सुषमा भली भाँति समझ लेती है । पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता को समझकर वह जीवन में जीत हासिल करने के लिए वर्मा से भी जुडती है । सुषमा के जीवन में ठहराव नहीं आता । वह बहती नदिया के समान है, किनारों पर जो कुछ भी मिलता है उसको सहेज कर बह निकलनेवाली तरंगिणी के समान सुषमा भी परिस्थितियों को सहेज कर रुके बिना आगे बढ़ जाती है । पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता को सुषमा की ज़िन्दगी का प्रत्येक पृष्ठ उभारकर रखता है ।

उपन्यासों की कथ्यात्मकता के विशेष संदर्भों को सूक्ष्मता से देखने पर यह स्पष्ट होने लगता है कि, पुराने मूल्यों पर विश्वास रखने वाले पात्र पराजित होकर बिखर जाते हैं । क्योंकि सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक पक्ष, नैतिक पक्ष के साथ ही आमूल परिवर्तन का शिकार बना हुआ है । इस परिवेश में व्यक्तिसंघर्ष और उसकी अकुलाहट कोई विशेष अर्थ नहीं रखते । समय की माँग को पहचाने बिना जीवन की दौड में विजय हासिल करना असंभव है । आलोच्य उपन्यास, उनके पात्रों की मानसिकता, कथा बिन्दुओं का चयन, घटना-विधान की विशिष्टता आदि इस बात का सफल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।

4. परिवर्तित मूल्यों से आयामित स्थितियाँ :-

परिवर्तित मूल्यों से आयामित स्थितियों पर उपन्यासों के आधार पर विचार करते समय वैविध्यात्मक परिणामों को प्रस्तुत करनेवाले कथ्यांश उभरकर आते हैं । यहाँ विशेष रूप में दो प्रकार की स्थितियाँ स्पष्ट होती है । उपन्यासों में कई ऐसे दृश्य आए हैं जहाँ पात्रों ने परिवर्तित मूल्यों को स्वीकारकर अपने जीवन को विजयी बनाया है । समानांतर रूप में ऐसी भी स्थितियाँ मिलती है जहाँ परिवर्तित जीवनमूल्य को न अपनाने के कारण पराजय के प्रहार को सहने की नौबत आ पडती है । चर्चित उपन्यासों में इन दोनों स्थितियों के अलावा परिस्थितिजनित विवशताओं से जुडकर संकटबोध में पड़े हुए पात्रों की स्थितियाँ भी मिलती है । वैसे इन तीनों प्रकार के विवेचन के अंदर आनेवाली कथ्यात्मकता स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास के मूल्यबोध की परिणतियों के विविध पक्षों को सुस्पष्ट करती हैं ।

1. परिवर्तित मूल्यबोध और सफल पात्र :-

नकारात्मक दृष्टि को अपनानेवाले पात्र

परिवर्तित मूल्यबोध को अपनानेवाली स्थितियों में सफलता की तलाश करनेवाले पात्रों में देशबंधु (उखड़े हुए लोग), वैद्य (राग दरबारी), दा साहब (महाभोज), मक्खनलाल (आतंक) जैसे पात्र आते हैं

जो नैतिकता को और परंपरागत मूल्यों को अपने पैरों के तले रौंद देते हैं और आगे की यात्रा में सफल बन जाते हैं ।

"उखडे हुए लोग" के देशबंधु, परिवर्तित मूल्यों को अपनाते हुए जीवन में सब कुछ प्राप्त करता हैं । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जो भ्रष्टाचारी राजनेताओं की परंपरा आयी उसका प्रतिनिधित्व करनेवाला है देशबन्धु । सत्ता को हथियाते हुए वह जीवन के सबसे महानतम आदर्शों की आड़ में अपनी नीचतम एवं घृणित आकांक्षाओं की पूर्ति करता रहा । अनीतिपूर्ण ढंग से मज़दूरों का शोषण करना, शरद और सूरज की सर्जनात्मक शक्ति का उपयोग अपनी भलाई के लिए करना, मायादेवी और उसकी पुत्री पद्मा के साथ दुर्व्यवहार करना, कॉलिज के प्रिंसिपल स्टेनो रूपा दर, "हॉटल डी पैरिस" की लड़कियाँ आदि को अपनी कामवासना का शिकार बनाना, सूरज को नौकरी से निकालना आदि कुछ ऐसे उदाहरण है, जिनमें सफलता प्राप्त करने में राजनैतिक नेता के बदले हुए मूल्यबोध ही काम करते हैं । उसकी सफलता को स्पष्ट करनेवाले शरद का कथन है "हम उससे लड़ भी पडे तो क्या करें ? बताइये, भूखे मरेंगे, भटकेंगे और आत्महत्याएँ करेंगे, जो मिलों में हो रहा है और वह ठाठ से अपनी इन्द्रपुरी में बैठा नित नई लडकियों के गले में बाहें डालेगा - कहकहे उड़ायेगा और पार्टियाँ देगा ।"[1] परिवर्तित मूल्यों को अपनाते हुए, सभी प्रकार के अत्याचारों एवं भ्रष्टतापूर्ण व्यवहारों को करते हुए भी देशबन्धु समाज के सामने एक पुण्यात्मा साबित

---

1. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 395

होता है । देशबन्धु की सफलता की सीमा इतनी लंबी है कि वह जनता के "नेता भैया" बनकर पूँजीवादी व्यवस्था की सभी सुविधाएँ, जनसेवा के नाम पर भोगता है और खादी के परिधान की आड़ में विलास और चरित्रहीनता का जीवन जीता है । मुखौटा किस तरह दोहरे व्यक्तित्व को उभारता है और सच्चे व्यक्तित्व को किस तरह छिपाता है और नए मूल्यों को स्वीकारने में व्यक्ति किस हद तक सफल होता है इसका सशक्त उदाहरण है - "उखडे हुए लोग" का देशबन्धु ।

"राग दरबारी" में श्रीलाल शुक्ल ने वैद्य को गाँव के नेता बनकर सभी प्रकार के अत्याचारों से अपने सत्ता को बनाए रखने में सक्षम होता हुआ दिखाया गया है । शिवपालगंज में जो कुछ भी है, वे सब वैद्य के अधीन है प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ही । कॉलेज के मैनेजर, कोओपरेटिव सोसाइटी के डाइरेक्टर पंचायत के कार्यकर्ता और गाँव के लोगों का प्रियनेता बना रहता है वैद्य । उसके दरबार में आकर उसके राग आलापन करनेवाले व्यक्ति ही गाँव के ऊँचे पदों पर आसीन होते है । उपन्यास के आरंभ में वैद्य, कॉलेज के मैनेजिंग डाइरेक्टर है, बाद में चुनाव के समय विपक्षियों को कॉलेज में आने से रोकते हुए वह फिर से मैनेजर बन जाता है और जब अंत में कुछ समस्याएँ होती हैं तो वह उसी पद से इस्तीफ़ा देता है किन्तु अपने पुत्र बद्री को उसी स्थान पर प्रतिष्ठित करता है । सनीचर नामक अपने एक आश्रित व्यक्ति को पंचायत का प्रधान बनाता है । और रामाधीन से गाँव सभा भी अपने ही नियंत्रण में रखता है । क्योंकि सनीचर का हर एक कार्य

वैद्य के आदेशानुसार ही होता है । कॉलेज का प्रिंसिपल भी वैद्य का आदमी है । उसके विरोध करनेवाले खन्ना और मालवीय को कॉलेज से बलपूर्वक इस्तीफा दिलाता हैं । सहकारी संघ में जो गबन होता है उसके पीछे भी उसका हाथ है । किन्तु उस अफसर को नहीं पकडने का उत्तरदायित्व वह सरकार पर ही डालता है । कॉलेज का प्रिंसिपल कॉलेज के लिए ज़्यादा पैसा सरकार से खींचता रहता है । यह भी वैद्य के जानते हुए ही होता है । अपने पुत्र रूप्पन को वैद्य कॉलेज का अधिकार सौंपना चाहता था किन्तु वैद्य के भ्रष्टाचारपूर्ण व्यवहारों का विरोध करने के कारण वह उसे कुछ भी नहीं देता है । इसप्रकार वैद्य राजनीति के क्षेत्र में सभी प्रकार के अत्याचारों को अपनाते हुए अपने विरोध करनेवालों का नाश करते हुए विजयी होता ही रहता है । उसके सामने रिश्ता, न्याय और मानवीयता का कोई महत्व नहीं ।

"महाभोज" का दा साहब भी बदली हुई राजनैतिक मूल्यों को अपनाते हुए विजयी होनेवाला पात्र है । मुख्यमंत्री होते हुए भी वह सरल और सीधा सादा दिखाई पडता है । अपने यह व्यक्तित्व से दूसरों को प्रभावित करने में भी वह सफल होता है । वह दत्ता बाबू से तर्क करते समय कहता है - "मैं क्यों किसी के विवेक अविवेक पर टिप्पणी करूँ ? बस, अपने कर्तव्य पर चल सकूँ और अपनी आत्मा की आवाज़ को कभी अनसुना न करूँ, यही बहुत है मेरे लिए । गीता से एक यही तो सीख ली है मैं ने ।"[1] बिसू की मृत्यु को लेकर किए जानेवाले विपक्षी नेता

---

1. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 40

सुकूल बाबू के सभी उपायों को वह विफल कर देता है । भाषण करने के लिए आनेवाले मुख्यमंत्री सीधे बिसू के घर चलकर उसके पिता हीरा को प्रेम के साथ अपनी गाडी में बिठाकर स्टेज पर लाता है और घरेलू उद्योग योजना का उद्घाटन खुद न करके उससे कराता है । इस व्यवहार से विरोधी व्यक्ति भी प्रभावित होता है । उस समय उसका विरोध करनेवाला बिंदा को बिसू का घातक साबित करके जेल में डालने में भी उसकी कुशलतापूर्ण व्यवहार की सफलता है । घरेलू उद्योग योजना उसका एक और ढोंग है जनता को प्रभावित करने के लिए । दा साहब जानते हैं कि गाँव में आतंक मचानेवाला, हरिजन टोले की कुछ झोंपडियों में आदमी सहित आग लगानेवाला और बिसू की हत्या करनेवाला व्यक्ति जोरावर ही है । उसकी कुर्सी उसी के बल पर टिकी हुई है । इसलिए वह परार्थ को स्वार्थ के सामने तुच्छ मानकर मौन साधकर बैठता है । उसके विरोध करनेवाले एस. पी. सक्सेना को तबादला करता है तो "मशाल" के संपादक दत्ता बाबू को अपने वश में कर लेता है । इसप्रकार सिद्धांत और आदर्श की बात करनेवाले दा साहब एक कुशल, चतुर और सफल राजनीतिज्ञ सिद्ध होता है जो अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पुराने मूल्यों को ताक पर रख देता है ।

नरेन्द्र कोहली का उपन्यास "आतंक" में आतंक को फैलानेवाला मक्खनलाल परिवर्तित मूल्यों को अपनाते हुए भ्रष्टाचारी राजनीतिज्ञ की छत्रछाया में विजय प्राप्त करता हुआ दिखाई पडता है । उसके लिए पति-पत्नी के संबंध की पवित्रता, व्यक्ति-व्यक्ति संबंध की आत्मीयता

आदि का, स्वार्थसिद्धि के लिए तिरस्कार करना एक आवश्यकता या अनिवार्यता है । पत्नी दर्शना के होते हुए भी वह कैलाशो नामक लड़की को फँसाता है । जब दर्शना इसका विरोध करती है तो वह उसको पीटता है और धमकी भी देता है कि, "यदि कैलाशो को लेकर उसने झगडा करना बंद नहीं किया तो वह उसे मारकर कहीं डाल देगा । उसका कोई आगे-पीछे है भी नहीं ; जो उसकी खबर लेगा ।"[1] और अपने कहे अनुसार कैलाशो के साथ बैठकर सिनेमा देखने से इनकार करने के कारण दर्शना की हत्या करता है और शर्मा नामक राजनीतिज्ञ के सहारे कानूनी जाँच पड़ताल से बच निकलता है । दर्शना की मृत्यु के बाद कैलाशो को लेकर सिनेमा भी देखता है । जब कैलाशो उससे शादी के बारे में कहती हैं तो वह इनकार करता है और उसका कथन है - "कैलाशो, अपनी औकात पहचान और मुझे समझने में भूल मत कर । ज़रूरत पडने पर मैं तुझे कहीं से भी उठाकर ले जा सकता हूँ । समझी । और जिस दिन ऐसी नौबत आई, उस दिन तू मुझ तक ही सीमित नहीं रहेगी । मेरे बाद तुझे मेरे चेले चाँटे भोगेंगे, जैसे शेर के शिकार को उसके बाद गीदड खाते है.....।"[2] वह अपने शिकार मात्र समझता है कैलाशो को और अपनी पकड़ के कारण किसी के साथ कोई भी अन्याय करने में उसे किसी का भी डर नहीं होता । अपने आत्मीय दोस्त खैरू को वह दर्शना की मृत्यु के चश्मदीद गवाह होने के कारण मार डालता है । भरे बाज़ार में उसे मार डालने पर भी शर्मा नामक भ्रष्टाचारी राजनीतिज्ञ के कारण वह निडर होकर चलता है । शर्माजी के विपक्ष के माथुर और उनके

---

1. आतंक - नरेन्द्र कोहली - पृ.43
2. आतंक - नरेन्द्र कोहली - पृ. 137

साथियों को मारने पर भी पुलिस उस पर हाथ नहीं उठाती क्योंकि वह शर्माजी द्वारा संरक्षित गुण्डा है । दर्शना की हत्या, खैरू की हत्या, माथुर के साथियों पर हमला आदि करते हुए भी मक्खनलाल सभी सुख सुविधाओं के साथ समाज में आतंक फैलाते हुए जीता रहता है और उसके सामने नए मूल्यों से बनी हुई जीत का रास्ता ही दिखाई पडता है ।

ये पात्र और इनके इर्द-गिर्द रूपायित होनेवाली कथ्यात्मक स्थितियाँ यह सिद्ध करती है कि जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए कोई भी मूल्य की ज़रूरत नहीं है । व्यावहारिकता और प्रयोजन-परकता ही रास्तों को निर्धारित करनेवाले तत्व है । असल में मूल्यच्युति या परिवर्तन के छोर पर ये पात्र खडे होते हैं ।

संतुलित दृष्टि को अपनानेवाले पात्र :-

परिवर्तित स्थितियों के साथ समझौता करते हुए, संतुलन को भी अपनाते हुए सफल होने की कोशिश में लगे हुए पात्रों में "उखडे हुए लोग" के जया और शरद, "वे दिन" के रायना, "कड़ियाँ" की प्रमिला, सुषमा, "आपका बंटी" के अजय और शकुन, "आतंक"का बलराम जैसे पात्र आते हैं जो अपने निर्णय को व्यावहारिकता के पक्षों से जोडते हैं, जिनका आधार है समसामयिक मूल्यबोध ।

"उखडे हुए लोग" के जया और शरद रूढ़मूल व्यवस्था को नकारते हुए और मानवीय स्वतंत्रता की गरिमा को उजागर करते हुए, नए रास्ते की खोज करनेवाले हैं । जया और शरद एक साथ जीने का निश्चय करते हैं और उनका विचार है कि "हम समाज को हवाई आदर्शों और बहस-मुबाहिसों से नहीं ; सक्रिय रूप से बदलने निकले है ।"[1] दोनों, घर से निकलने के बाद देशबंधु के "स्वदेश महल" में फँस जाते हैं । शरद को वहाँ नौकरी मिलती है किन्तु वह तो भ्रष्टाचारी राजनीतिज्ञ देशबंधु के शोषण का चक्र में फँसा हुआ है । वहाँ रहते हुए देशबंधु और उसके सहायकों का तथा प्रो. कपिल की पत्नी का उन लोगों के संबंध पर व्यंग्य करना उनके लिए कोई समस्या नहीं बनती । देशबंधु के असली स्वरूप को समझने के बाद जया और शरद वहाँ से नई धरती की खोज में भाग निकलते हैं । ये दोनों पात्र नई पीढ़ी के उमंगों को और संघर्ष से जूझने की शक्ति को उजागर करते हैं । व्यक्तियों के बीच में होनेवाले अन्दरूनी संबंध को वे विवाह मानते हैं । और इस समझौतेवादी संबंध में उन्हें कोई अनैतिकता या मूल्यच्युति दिखाई नहीं पडती । शरद और जया एक दूसरे के पूरक तत्व है और एक की कमी को पूरा करने में दूसरा हमेशा अपनी भूमिका सफल रूप में अदा करता रहता है ।

निर्मल वर्मा के "वे दिन" में रायना अलगाव से पीडित नारी है जो मृत्युबोध से आकुल होकर क्षण के महत्व को आधार मानकर अपने अकेलेपन में सहारे को ढूँढती रहती है । महायुद्ध से उत्पन्न मूल्यपरिवर्तन

---

1. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 180

से आध्यात्मिक मूल्यों का स्थान भौतिक मूल्य ले लेते हैं । इस परिस्थिति में पारिवारिक संबंधों में, पहले प्रेम की मृत्यु होती है फिर इन्सान की । यही स्थिति रायना और जाक के संबंध में भी होती है । पुत्र मीता के प्रति भी कोई कोमल भावना उसके मन में नहीं रह जाती । अतीत के कैम्पों की भयानक परिस्थिति उसका पीछा करती रहती है । थोडी देर का सुख, संतोष और सहारा ही रायना नायक से चाहती है । जिजीविषा उसके मन में वर्तमान के प्रति मोह जगाती है । नायक से विदा लेते समय रायना कहती है - "समय कुछ भी मानी नहीं रखता - अगर हम एक सुलगते क्षण में अँधेरे के बीच उस ताप को पकड़ सकें यह जानते हुए भी कि वह जीवित नहीं रहेगा..... उसके बुझने के बाद फिर अपने अपने अँधेरे में ठिठुरने लगेंगे ।"[1] रायना के लिए नायक से आत्मीय एवं शारीरिक संबंध जोडना कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं है । क्योंकि जीवन में वह कोई भी बात या व्यक्ति को शाश्वत नहीं मानती । उसके लिए क्षणों का ही महत्व है । क्षण में जीते हुए जीने का एहसास करने में उत्सुक रायना के लिए संबंध जोडना और विदा लेना कोई विशेष बात नहीं लगती । उसके लिए पुराने मूल्य कुछ महत्व नहीं रखते और जीवन के क्षणों को महत्वपूर्ण बनाने के प्रयत्न में वह लगी रहती है ।

"कड़ियाँ" उपन्यास की सुषमा एक ऐसा पात्र है जो परिवर्तित स्थितियों को स्वीकारती हुई सफलता की ओर अग्रसर होती है । उसी प्रकार इसमें आनेवाली नायिका प्रमिला भी अपनी प्रारंभिक

---

1. निर्मल वर्मा - वे दिन - पृ. 197

असफलताओं का मूल कारण पहचानकर उपन्यास के अंत में स्वावलंबिनी बनकर समझौते की रास्ते को अपना लेती है । प्रमिला, महेन्द्र की पत्नी हैं, जो पुराने मूल्यों पर अडिग रहनेवाली है । इसी कारण उपन्यास के प्रारंभ में ऑफिस की लडकी सुषमा के साथ पति का संबंध उसके लिए असहनीय लगता है । जब महेन्द्र उसे घर से जाने के लिए मज़बूर करता है प्रमिला टूट जाती है । दूसरे बच्चे के जनम के बाद वह संतुलन प्राप्त करती है और पति की सहायता के बिना जीवन बिताने का निश्चय करती है । पदोन्नति प्राप्त पति को वह अयोग्य लगती है तो पति के बिना भी जीने का धैर्य उसमें आ जाता है । अपनी सामर्थ्य को दिखाने के प्रयास में वह दवाइयों की दूकान चलाने का निर्णय लेती है । आत्मनिर्भर होकर जीवन की कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता प्रमिला दिखाती है । और पुराने मूल्यों की ओर मुडकर पति के पास लौट जाने की इच्छा उसमें कतई नहीं रह जाती ।

महेन्द्र और प्रमिला के पारिवारिक संबंध के बीच में आनेवाली दूसरी औरत के रूप में "सुषमा" का चित्रण हुआ है । सुषमा महेन्द्र से प्यार करती रहती है । महेन्द्र को चाहते हुए भी वह प्रमिला और महेन्द्र के बीच अड़चनें नहीं डालना चाहती । वह थोडा सा सहारा ही महेन्द्र से माँगती है । महेन्द्र का व्यक्तित्वहीन व्यवहारों से ऊबकर वह वर्मा की ओर मुडती है क्योंकि उसे नौकरी की सुरक्षा और अपना भविष्य प्यार से भी अधिक महत्वपूर्ण है ।

"आपका बंटी" के शकुन और अजय भी परिवर्तित मूल्य स्थितियों के साथ देते हुए सफलता की ओर मुडते रहते हैं । अजय और शकुन को एकसाथ जीना बहुत कठिन लगता है और दोनों अलग-अलग जीने का निर्णय लेते हैं । अजय बाद में अपने लिए मीरा को ढूँढ लेता है और शकुन से तलाक लेता है । शकुन भी अजय से अलग होने के बाद डा. जोशी के साथ शादी करती है । अतः दोनों अपने लिए उपयुक्त व्यक्ति को पत्नी और पति के रूप में स्वीकार करके जीवन बिताते हैं । वैवाहिक संबंध की परंपरागत मान्यताओं को ठुकराने में और अपने लिए उपयुक्त साथी को चुनने में उन दोनों को कोई हिचक नहीं होती । क्योंकि अनमेल व्यक्ति के साथ जीवन को खसीटे रहने में वे अपनी बुराई ही महसूस करते हैं । अपने लिए नई ज़िन्दगी ढूँढ निकालने में बंटी को एक बाधा ही दोनों महसूस करते हैं । पिता-पुत्र संबंध और माता-पुत्र संबंध का महत्व, पवित्रता, आत्मीयता और गहराई तो उनके सामने कोई समस्या नहीं उपस्थित करते । वे दोनों अपने लिए आनंद और सुख की ज़िन्दगी ढूँढ निकालने में विजयी होने के प्रयत्न में लगे रहते हैं ।

"आतंक" में बलराम अपने घर की कठिनाइयों का सामना करते हुए पढाई करके नौकरी प्राप्त करता है । माँ और गिरिधर को लेकर दूसरे घर में रहते समय उसे जीविका चलाना कठिन लगता है और वह अपने आदर्शों को छोडकर रोमांस कथाएँ, जासूसी, शिकार कथाएँ आदि लिखने लगता है । शादी करने के बाद उसे राधा के साथ स्वंतत्र जीवन बिताने की इच्छा होती है तो वह माँ और भाई को फिर पिता के घर चले जाने के लिए

कहता है । उसके लिए संबंध की गहराई स्वार्थ के सामने तुच्छ बन जाती है और उपन्यास के अंत में वह डा. कपिल को अस्वीकार करता है और खैरू की हत्या का चश्मदीद गवाह होते हुए भी गवाही नहीं देने का निश्चय करता है । क्योंकि उसे शर्माजी अखबार के सहायक संपादक बनाने का वादा करता है और ठाकुर वीर बहादुर सिंह के तबादला की बात सुनाता है । उसमें अपने लिए जीवन में उन्नति पाने की लालच है । मक्खनलाल एवं शर्माजी के विरोधी होकर जीवन का ही अंत कर लेने का क्रांतिकारी दिल उसमें नहीं है । इसलिए उपयोगितावादी दृष्टि का सहारा लेकर वह जीवन की सफलता की ओर मुडता है ।

इन पात्रों को रूपायित करनेवाली स्थितियाँ परिवर्तित जीवनदृष्टि के परिणामस्वरूप उभरनेवाली उपयोगितावादी चेतना से जुडती है । और नए मूल्यों से समझौता करते हुए ये पात्र विजय की ओर बढ़ते रहते हैं ।

2. परिवर्तित मूल्यबोध और असफल पात्र :-

परिवर्तित मूल्य स्थितियों को नहीं अपनाने के कारण पराजित होनेवाले पात्रों में पद्मा (उखडे हुए लोग), श्रीधर बाबू (यह पथ बंधु था), रंगनाथ (राग दरबारी), मास्टर शशिकांत, डा. देवनाथ और विपिन (अलग अलग वैतरणी), डा. कपिला (आतंक) जैसे पात्र आते हैं ।

इनमें से श्रीधर बाबू, कपिला, शशिकांत, देवनाथ, विपिन जैसे पात्र आदर्शों से कहीं कहीं जुडे हुए हैं । समसामयिक स्थितियों में आदर्शों की मूल्यहीनता उनके सारे कार्यकलापों को पराजय के कगार पर लाकर खडा कर देती हैं । "उखडे हुए लोग" की पद्मा की स्थिति आदर्शों से पूर्ण रूप से न जुडने पर भी अंतकरण की पुकार से प्रभावित है । मूल्यच्युति की पराकाष्ठा का सहन नहीं कर पाने के कारण पद्मा को आत्महत्या करनी पडती है ।

उधर रंगनाथ परिस्थितियों के दबाव के कारण अकर्मण्य हो जाता है और हार अपनाने के लिए विवश हो जाता है । पद्मा और रंगनाथ वैयक्तिक संघर्ष में, मूल्यपरिवर्तन की स्थिति के प्रति विरोध प्रकट करने में असमर्थ है ।

उपर्युक्त पात्रों की मानसिकता मूल्यपरिवर्तन की अवधारणा को स्वीकारने में इसलिए असमर्थ होती है कि, संस्कारगत रूप में उनके अन्दर पुरानी मान्यताएँ अब भी रूढ़मूल है । उनको उखाड़ फेंकने में वे सफल नहीं होते । व्यावहारिकता के पक्ष को और उससे प्राप्त होनेवाले प्रयोजन को सही मायनों में आंकने में ये पात्र असफल रहते हैं । दूसरे शब्दों में आधुनिकता-बोध को स्वीकारने की अक्षमता ही इन पात्रों की पराजय की कारण बनती है । सही अर्थ में परिस्थितियों को परखना और उनके प्रति व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिक्रिया व्यक्त करना न श्रीधर बाबू जानता है और न शशिकांत और न ही बन्दिनी पद्मा । वैसे पद्मा की प्रतिक्रिया एक अन्तिम ट्रेजेडी की

सूचना देती है जहाँ नारी की असहायता सबसे प्रमुख बनकर उभरती है ।

उधर पराजित पात्रों की कोटि में आनेवाले "अलग अलग वैतरणी" के मास्टर शशिकान्त, विपिन, डा. देवनाथ आदि इसलिए पराजित होते हैं कि उनके जीने का परिवेश की पराजय के अनुकूल बना हुआ है । यहाँ सवाल अडजस्टमेंट का नहीं है भाग निकलने का है । संघर्ष करते हुए मूल्यों के परिवर्तन को स्वीकारते हुए यदि वे जीना भी चाहें तो इसकी गुँजाइश वहाँ नहीं है । यह "अलग अलग वैतरणी" की त्रासदायक स्थिति है । फिर भी यह कहा जा सकता है कि इन तीनों पात्रों की मानसिकता पहले से ही एक सीमा तक पुरानी मान्यताओं पर आधारित रही है । शायद यही उनकी अदूरदर्शिता का कारण बनती है ।

वैसे पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता भी इन पात्रों की पराजय के परिणामों को उभारने में सहायक होते हैं । एक ओर वैचारिक स्तर पर पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता समाज पर छाई रहती है । तो दूसरी ओर नए मूल्यों को न स्वीकारने की विवशता इन पात्रों को घेरी रहती है । वस्तुतः पात्रों के कार्यकलापों की हार पुराने मूल्यों की अप्रासंगिकता से भी है और नए मूल्यों को न अपनाने की पात्र-मानसिकता से भी जन्मी हुई है । इस तरह यह पराजय दो पक्षों के आपसी संयोग से जनित विडंबना का परिणाम है । जो भी हो यथार्थ की दृष्टि से चर्चित स्थितियाँ सामाजिक और वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के घात-प्रतिघात से सर्जित हुई लगती है ।

एक तटस्थ दर्शक के रूप में उपन्यासकार इनको देखता है, अनुभूत करता है और अभिव्यक्ति देता है । स्वातंत्र्योत्तर औपन्यासिक रचना-प्रक्रिया में प्रतिबिंबित होनेवाले मूल्यविधान के और उनके परिणामस्वरूप जन्म लेनेवाले व्यक्तिगत त्रास के अनदेखे पक्षों का आकलन प्रस्तुत उपन्यासों को अधिक महत्वपूर्ण बना देता है ।

3. संकटबोध की स्थितियाँ :-

चर्चित उपन्यासों की कथ्यात्मकता विजय और पराजय की स्थितियों को उभारने की अपेक्षा संकटबोध की स्थितियों से आबद्ध पात्रों की दुविधा को सक्षमता के साथ प्रस्तुत करती है । मूल्य परिवर्तन की विशेष स्थितियों में कुछ करने की आकांक्षाओं का, कुछ न कर पाने की निराशा का समाहार प्रकट होता है । विरोधी स्थितियों के घात-प्रतिघात में फँसे हुए नारी पात्र और पुरुष पात्र, दोनों अध्ययन के विशेष आधार बनते हैं । "डाक बँगला" की इरा, "अँधेरे बन्द कमरे"की नीलिमा, "अलग अलग वैतरणी" की कनिया, "रुकोगी नहीं राधिका" की राधिका, "सूरजमुखी अँधेरे के" उपन्यास की रत्ती जैसी नायिकाएँ नारी की मानसिकता को उसके संकटबोध को, उसके अनिर्णय की स्थितियों को स्वातंत्र्योत्तर मूल्यपरिवर्तन के परिवेश में प्रस्तुत करती है । उसकी गहराई में एक ऐसी दृष्टि परिलक्षित होती है जो नारी की अस्मिता को परिवार, सेक्स, परिवेश और पुरुष के इर्द-गिर्द रूपायित करती है ।

उधर संकटबोध में फँसे हुए पुरुष पात्रों की भी स्थितियाँ समीक्षा के योग्य है । "उखडे हुए लोग" का सूरज, "वे दिन" का गैड, "अंधेरे बन्द कमरे" का हरबंस, "अलग अलग वैतरणी" का विपिन, "महाभोज" का सक्सेना, "कड़ियाँ" का महेन्द्र और "आपका बंटी" का बंटी संकटबोध में फँसे हुए पात्रों की मानसिकता का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं । इन पात्रों के सामने ऐसी स्थितियाँ है जिनपर उनका कोई अधिकार नहीं है । संघर्ष करने का भी उनको अधिकार नहीं है । विशिष्ट परिस्थितियों में जीते रहने के बजाय और कुछ भी उनसे हो नहीं पाता । परंतु इन पात्रों में महेन्द्र परिवर्तित मूल्यों के प्रति आकर्षित होता है और वहाँ पर जम नहीं पाता । हरबंस का संकटबोध अहं केन्द्रित भ्रम का परिणाम है । सक्सेना और विपिन अपने कर्त्तव्य पर अडिग रहकर अनचाहे दुःखों का वरण करते हैं । बंटी का तो भविष्य अनिश्चित स्थितियों की तराजू में डंवाडोल होता है ।

स्त्री पात्र :-

संकटबोध की स्थितियों में त्रासदायक अनुभवों को समेटने-वाले पात्रों में स्त्री पात्रों की प्रमुखता है । ये नारीपात्र कहीं परिस्थिति से प्रताडित है तो कहीं अहंवादिता की शिकार है, तो कहीं पुरुष द्वारा शोषण के परिणामों को भुगतने के लिए विवश है । "डाक बँगला" की इरा की नैतिक भावना आद्यंत इसतरह घायल हो जाती है कि उसे इस भावना को बचाए रखने का कोई उपाय ही नहीं सूझता । इरा के सारे कार्य-कलाप कहीं-न-कहीं संकटबोध की स्थिति से जुडते हैं । उसके जीवन में जो भी घटित

होता है वह उसकी इच्छा से होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । हर मोड पर जाने अनजाने में वह एक प्रकार के असमंजस का अनुभव करती रहती है । इसका अन्तिम दृश्य विमल और अपने गर्भस्थ शिशु के बीच के चुनाव को लेकर होता है । अंत में विमल के प्यार के लिए वह अपनी कोख को गिरा देती है । ऐसा करते समय संकटबोध की वह शिकार बनी रहती है । परन्तु अंतिम परिणाम उसके खिलाफ ही निकलता है । जहाँ न बच्चा ही उसे मिलता है न विमल ही । उपन्यास का अंत फिर एक बार संकटबोध को भोगने के लिए इरा को बाध्य कर देता है ।

शहरीकरण की प्रक्रिया के परिणामों की पृष्ठभूमि में नारी का संकटबोध बहुआयामी बन जाता है जिसमें नैतिकता और अनैतिकता के बीच फँसे रहने की विडंबना अत्यधिक त्रासदायक बन जाती है । "अँधेरे बन्द कमरे" की नीलिमा इस प्रकार के संकट का अनुभव करती है । न वह खुल्लम खुल्ला पति को ललकार सकती है, न वह पति के साथ जुडकर ही रह सकती है । हरबंस की हरकतें नीलिमा के लिए असहनीय बनती है और धीरे धीरे उसी के अंदर नारी का अहम् जागरूक होने लगता है । एक सफल कलाकार के रूप में नीलिमा की ख्याति एक ओर हर्षदायक होती है तो दूसरी ओर हरबंस की नफरत से वह अंदर-ही-अंदर कुढती ही रहती है । ऊबानू के साथ हमेशा के लिए जुड जाने की इच्छा कभी उसे हरबंस से अलग होने का सुझाव देती है तो उसके अंदर संस्कारगत रूप में विद्यमान पत्नीत्व का बोध मंगलसूत्र को तोडकर फेंकने से रोकता है । यह दुविधा आद्यन्त मानसिक रूप में नीलिमा भोगती है ।

यह एक तरह की विवशता है जिसमें पुराने मूल्यों को पूर्णतया छोडा नहीं जा सकता और नए मूल्यों से मुख मोडा भी नहीं जा सकता । एक प्रकार से नीलिमा का यह संकट समसामयिक, सामाजिक मूल्यबोध से और परिवर्तित मूल्य अवधारणा से घिरी हुई नारी का संकट है । किसे अपनाना है और किसे छोडना है, इसका फैसला करने में वह असमर्थ बनी रहती है । शायद नई मूल्य संहिता के उभरने के परिणामस्वरूप जन्मे हुए शून्यकालीन मूल्यरूपायन की स्थिति का यह परिचायक है । शहर की परिस्थितियों में नारी की यह दुविधा अधिक अर्थपूर्ण बन जाती है ।

"अलग अलग वैतरणी" की कनिया की संकटबोध में फँसी हुई है । सामाजिक परिवर्तन के आरंभ होने से गाँव में जो परिवर्तन होता है उसके साथ-ही-साथ पारंपरिक जीवन के विघटन और आधुनिक मूल्यों की प्रामाणिक प्रतिष्ठा के अभाव ही दिखाई पडता है । समाज में जो बदलाव आता है उसके साथ गाँव में जमींदारी प्रथा भी टूटती है । जमीन्दारी प्रथा के टूटन, जमीन्दार जैपाल सिंह के परिवार की स्थितियों में भी परिवर्तन लाता है । जमीन्दारी छूट जाने के बाद जैपालसिंह गाँव छोडकर भीरपुर जाता है । पुत्र बुझारथ की हरकतों से तंग आकर बहू कनिया को भी वह साथ ले चलता है । कनिया और बुझारथ के संबंध की सच्ची स्थिति निम्नलिखित शब्दों में प्रकट हो जाती है । "बुझारथ से उन्हें घृणा थी, पर काली रात में जब बच्चे सो जाते और कनिया को चारों तरफ अकेलेपन की डरावनी छायाएँ नाचने लगतीं, वे रातें रो-रोकर बिता देतीं ।"[1]

---

1. अलग अलग वैतरणी - शिवप्रसाद सिंह - पृ. 54

पति के बदचलन होने से जितने अधिक कनिया दुःखी थी उतना ही सहारा उसको सास से मिलता रहा । जब बाद में सास की मृत्यु होती है तब उसको बुझारथ के काले कारनामों से बचाने के लिए जैपाल-सिंह मीरपुर ले जाता है । किन्तु जैपालसिंह अपने छोटे बेटे विपिन की जिम्मेदारी कनिया पर छोडते हुए मर जाता हैं । करैता जाना न चाहते हुए भी कनिया ससुर को दिए गए वचन को पूरा करने के लिए वापस घर जाती है । बुझारथ और कनिया के बीच जो संबंध है, उसमें कनिया के घर लौट आने से कोई फरक नहीं पडता । विपिन कनिया के लिए पुत्रसमान है और विपिन उसे, बुझारथ से मिली उपेक्षाभाव के बदले स्नेह और आदर का व्यवहार करता रहता है । बाद में शहर में नौकरी मिलने पर वह भी चला जाता है । बुझारथ के डकैती में पकड़े जाने के बाद भी कनिया उसके साथ जीने के लिए मज़बूर है, क्योंकि उसके लिए और कोई रास्ता नहीं बचा है ।

"रुकोगी नहीं राधिका" में उषा प्रियंवदा ने जो नारी का चित्रण किया है वह आद्यन्त नारी के संकट की स्थिति का परिचायक है । राधिका पापा के दूसरे विवाह करने से रूढ़कर डैनियल के साथ विदेश चली जाती है । डैनियल जब उसे मुक्त कर देता है तब से उसके जीवन में संकट की स्थितियों की शुरूआत होने लगती है । पिता से अलग होने पर भी, राधिका के मन में पिता के प्रति जो गहरा प्यार है उसमें कोई कमी नहीं आती । वह डैन में भी प्रेमी को नहीं अपने पिता को ही ढूँढती रही । जब डैन को यह असह्य लगता है तब उनका संबंध-विच्छेद हो जाता है । पढ़ाई पूरी करके भारत लौटने पर उसे लगता है कि न वह भारतीय परिस्थितियों के

साथ जुड़ सकती है, न ही पाश्चात्य परिस्थितियों के साथ । एक तरह से वह "मिसफिट" हो जाती है ।

भारत में राधिका अक्षय से परिचित होती है । अक्षय में जो स्थिरता और गांभीर्य है उससे वह प्रभावित होती है । क्योंकि वह चाहती है कि उसके पति में स्थिरता और औदार्य हो तथा उसको सारे अवगुणों सहित स्वीकार करने की और उसके अतीत को झेलने की क्षमता भी हो । विदेश से परिचित मनीश के साथ जब फिर से मुलाकात होती है, तब राधिका के मन उसके प्रति आकर्षित हो जाता है । किन्तु मनीश से उसका कहना है " हो सकता है कि मैं अक्षय से विवाह कर लूँ । मेरे जीवन में प्ले-ब्वॉय के लिए स्थान नहीं है । मैं संगी चाहती हूँ ; जिसमें स्थिरता हो, औदार्य हो, जो मुझे मेरे सारे अवगुणों सहित स्वीकार कर ले । मेरे अतीत को झेल ले ।"[1] किन्तु, जब अक्षय अपने साथ चलने की बात कहता है तब राधिका का उत्तर है "मैं नहीं चाहती कि जल्दबाजी में तुम अपने को कमिट करो अक्षय ।"[2] मनीश से प्रभावित होने पर भी उसके चपलतापूर्ण व्यवहारों के प्रति राधिका के मन में विरोध की भावना ही है ।

भारत लौटने पर राधिका को अपने जीवन में परेशानी ही महसूस होती है । इसके बारे में जब मनीश उससे पूछता है उसका जवाब

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 69
2. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 100

जीवन की संकटग्रस्त स्थिति को सफलतापूर्वक दर्शानेवाला है । "सबकुछ, "उसने अपने को थोडा-सा संयत करते हुए कहा, "मेरा परिवार, मेरा परिवेश, मेरे जीवन की अर्थहीनता, और मैं स्वयं जो होती जा रही हूँ, एक भावनाहीन पुतली-सी.....!"[1]

राधिका के जीवन की स्थितियाँ उसे अक्षय और मनीश के बीच चुनाव करने में कठिनाई उपस्थित करती हुई आगे बढ़ती है । और, अंत में मनीश को स्वीकारते हुए खत्म हो जाती है । जाते वक्त पापा से उसका कहना है "नहीं पापा मैं जाना चाहती हूँ । मनीश..... मेरे एक बंधु.....।"[2]

इस प्रकार "रुकोगी नहीं राधिका" की राधिका जिस संकटबोध का अनुभव करती है वह असाधारण होते हुए भी एक संभाव्य परिस्थिति में जन्म लेनेवाले आत्मसंकट का परिचय कराता है । आधुनिका बनना और आधुनिका बनने के बाद जीवन का सामना करना, नैतिकता को तिलांजलि देने के बाद वरण की स्वतंत्रता पर आधारित होकर जीवन का चयन करना, वास्तव में आधुनिक संकटबोध का सबसे अधिक त्रासदायक पक्ष है । राधिका का चरित्र इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है ।

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 85
2. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 116

उधर "सूरजमुखी अंधेरे के" उपन्यास की नायिका रत्ती को, संकटबोध के विशेष परिदृश्यों से जोडकर देखना आवश्यक बन जाता है । आम नायिका के समान और अन्य नायिकाओं के समान उसका संकट साधारण परिस्थितियों में रूपायित नहीं होता । एक दृष्टि से देखा जाय तो रत्ती का दुःख और उसकी विवशता और आत्मयंत्रणा, इन सब पात्रों से अलग है । शरीर पर किए गए अत्याचार के परिणामस्वरूप जन्मी हुई निषेधात्मक मनोवृत्ति, सेक्स की प्रताडना से भोगी हुई दुविधा बनकर उसके शरीर को पथरीला और मन को रूग्ण बना देती है । नारीदेह को पाकर भी नारी की सामान्य दैहिक इच्छाओं का वरण करने में और उसके अनुसार अपने जीवन को सँवारने में वह आधन्त असमर्थता का अनुभव करती है । इसके परिणाम-स्वरूप भोगे जाने वाले दुःख और संत्रास को संकटबोध के अंदर मात्र सीमित नहीं किया जा सकता । उसके लिए नए अर्थबोध को दिलानेवाले शब्दों का चयन करना आवश्यक हो जाता है । रत्ती की मानसिक पीडा और अनिर्णय की भूमिका वस्तुतः एक यंत्रणा का परिणाम है जिसको भोगने के लिए वह अभिशप्त सी हो जाती है । कृष्णा सोबती की नायिका की मानसिकता वैसे एक संकल्पनात्मक स्तर पर उभरती हुई दिखाई पडती है, जहाँ समूचे यथार्थ का परिबोध महत्वहीन बन जाता है । रत्ती के लिए नैतिक और अनैतिक, प्रश्नों की प्रासंगिकता नहीं के बराबर है । उसे तलाश है उस साध्य की जो उसकी समूची संवेदना को किसी भी हिचहिचाहट के बिना स्वीकार कर सके । वैसे बहुत सारे लोग उसकी जिन्दगी के अहाते से गुज़र जाते हैं । परन्तु किसी के लिए भी वह अपने तन और मन का दरवाज़ा नहीं खोल पाती । या तो वह उनके लिए अयोग्य होती है या उसके दरवाज़े पर दस्तक देनेवाले उसके लिए अयोग्य लगते हैं । वरण और स्वीकार की

यह दुविधाजनक स्थिति रत्ती की ज़िन्दगी की सबसे बड़ी संकट की स्थिति है । इसी बीच समय का पहिया आगे घूम जाता है ।

बीच-बीच में जन्म लेनेवाला मातृभाव कुमू को अपने बच्चे के समान प्यार करने का एहसास देता है । दूसरों के समान एक सफल ज़िन्दगी बिताने की इच्छा भी रत्ती को प्रभावित करती रहती है । परंतु वह ऐसा कुछ नहीं कर पाती । रत्ती के जीवन की संकट की स्थितियाँ कहीं मज़बूरियों से जुड़ी हुई है, तो कहीं आत्मग्लानि से । इस दृष्टि से रत्ती हिन्दी उपन्यासों की नायिकाओं की श्रृंखला में एक अजीब कड़ी बन जाती है ।

रत्ती के संकटबोध की स्थिति एक प्रकार से चरमसीमा पर आकर फिर से करवटें बदलती है । दिवाकर को प्राप्त करना और दिवाकर के लिए अपने तन-मन के किवाड़ को खोलने का निश्चय करना, वैसे स्वयं एक प्रश्नचिह्न है जिसका जवाब न रत्ती के पास है न दिवाकर के पास, न ही लेखिका के पास । क्योंकि दूसरी स्त्री के पति को अपने यहाँ आने की अनुमति देना और उसको मन से स्वीकारना, स्वीकार्य मान्यताओं के विरुद्ध होते हुए भी रत्ती के लिए कोई अस्वाभाविक फैसला नहीं लगता । इस प्रकार "सूरजमुखी अँधेरे के" की नायिका रत्ती एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करती है, जो आनेवाले कल की पीढ़ी की नायिका की हो सकती है ।

पुरुष पात्र :-

"उखडे हुए लोग" उपन्यास का सूरज एक ऐसा पात्र है जो कुछ करने की इच्छा रखते हुए भी संकटबोध में फँसने के कारण कुछ करके दिखाने में उपन्यास के अंत तक असमर्थ रहता है । जब उसकी जागृति होती है, तब तक उसके जिन्दगी का बहुत अधिक हिस्सा नष्ट हो चुका होता है ।

सूरज उस परिवेश की संतान है जिसमें व्यक्ति अपनी नियति का निर्धारण स्वयं नहीं कर पाता । पूँजीपतियों के स्वार्थ के बीजों को उगाने के लिए ही शायद उसका जन्म हुआ है । बचपन से अनाथ सूरज, घरेलू नौकर, पाकेटमार, चोर आदि की भूमिका निभाने के बाद बुकस्टॉल के एजेंट के काम में संलग्न हो जाता है । इसी काल में वह चंद्रा से प्यार करता है और प्यार में पराजित होकर मारा मारा फिरता है । अपने आदर्श प्रेम के परिणाम से दुःखी होकर रहते समय चन्द्रा से उसकी मुलाकात होती है । चन्द्रा अपने पति से उसका परिचय "घर के पुराने नौकर"के रूप में करती है जो पागल हो गया है । चन्द्रा के प्यार की असलियत पहचानने में जो विलम्ब हुआ था उस पर वह स्वयं खिन्न रह जाता है ।

जया और शरद से परिचित होकर उन लोगों की जिन्दगी के बारे में सुनने पर उसको लगता है कि अगर उसमें इतनी हिम्मत होती तो उसका जीवन भी और कुछ बन गया होता ।

देशबन्धु के सारे काले कारनामों की जानकारी रखते हुए भी उसके प्रति विरोध प्रकट करने का साहस सूरज में नहीं है । उसे स्वयं लगता है कि सूरज नामक व्यक्ति जीवित नहीं है । बौद्धिक स्तर पर उसका शोषण करनेवाले देशबन्धु के प्रति आंतरिक स्तर पर क्रोध और घृणा रखते हुए भी वह उसका खुलकर विरोध नहीं कर पाता । शरद से अपनी ज़िन्दगी के बारे में सूरज का कथन है - "फैमिली -वैमिली अपने कुछ नहीं है, पता नहीं भगवान ने यहाँ भेज कैसे दिया दुनिया में ।"[1]

देशबन्धु के अड्डे में आकर उसके सत्ता के नीचे दबकर रहने के लिए वह मज़बूर हो जाता है । जहाँ उसका जीवन अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है, क्योंकि वह जो कुछ करना चाहता है, कर नहीं पाता ।

सूरज के जीवन की घटनाएँ वैसे विशेष प्रकार से आयोजित लगती है । सड़क के आदमी को महलों में रहनेवालों के साथ दोस्ती निभाने में जो असमर्थता हो सकती है उसी का सशक्त उदाहरण है सूरज । चन्दा को न अपना पाने का कारण - एक सीमा तक सूरज की ही निर्णयहीनता है । यहाँ शरद की तुलना में उसकी कमज़ोरी बड़े ही स्पष्ट ढंग से उभरती है । उपन्यास की स्थितियाँ उसके चरित्र को पूर्णरूप से विकसित नहीं होने देती । सूरज का अँधेरे में बंद रहना और दुनिया की रोशनी को नहीं पहचान पाना

---

1. उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 39

उसके आत्मसंकट का सबसे प्रमुख कारण है । सूरज की सबसे बडी कमी यह है कि किसी भी समस्या का आत्मविश्वास के साथ वह सामना नहीं कर पाता । ऐसे पात्रों की स्थिति इस प्रकार के प्रलाप और त्रास के परिणामों को भुगतने के ही बन सकती है । "उखडे हुए लोग" इसका सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करता है ।

मानसिक असमंजस से पीड़ित पुरुष पात्रों की श्रेणी में आनेवाला एक और पात्र है "वे दिन" का गैड । इस पात्र में प्रतिबिंबित संकटबोध का स्वरूप दो प्रकार की स्थितियों से आयामित है । एक ओर वह प्रवासी भारतीय है । वह प्राण में गैड का काम करता है रोटी कमाने के लिए और दूसरी ओर उसकी प्रतिक्रियात्मक अवधारणाएँ विदेश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में स्वदेशी मन की सीमाबद्धता के कारण जनित है । इसमें दूसरी परिस्थिति का ही प्रभाव ज़्यादा प्रमुख बनकर उभरता है, जिसके कारण वह विशेष प्रकार की मानसिक यंत्रणा का अनुभव करता है ।

गैड और रायना का संबंध यदि भारतीय परिवेश में होता तो उसको प्यार के साधारण शीर्षक के अंदर चर्चा का विषय बनाया जा सकता था । लेकिन अभारतीय परिवेश में प्यार का अर्थ ही कुछ बदला हुआ लगता है । रायना गैड के साथ जो शारीरिक संबंध जोडती है उसके पीछे जन्म-जन्मांतर के संस्कारों की या विश्वास रेखाओं की बात नहीं होती ।

बदले एक महज शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति का भौतिक उद्देश्य मात्र ही रह जाता है । लेकिन गैंड इसे अपनी भारतीय दृष्टि से देखता है और प्यार के परंपरागत बोध से जुडने लगता है । रायना की विदाई के समय गैंड के मन में उभरनेवाली क्षुब्धता, उत्कण्ठा और व्याकुलता भारतीय विरह की पूर्व पीठिका का बन जाती है, जबकि रायना में इसी प्रकार का कोई भी भावपरिवर्तन नहीं दिखाई पडता । दृष्टिगत अंतर-संस्कृतिगत अंतर से प्रभावित होता हुआ एक नग्न सत्य बनकर खडा होता है । इसको अनदेखा करना सत्य के द्रष्टाओं के लिए असंभव बात है ।

गैंड इस दोहरे एहसास को समझता है । संवेदना का आदी उसका मन इस सत्य को स्वीकारते हुए भी अस्वीकारना चाहता है । यही गैंड की विडंबना है । परोक्ष रूप में यहाँ भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों के अंतर से जनित मानवीय संबंधों की विषमता का और संबंधों की यांत्रिकता का बोध उभरता है । "वे दिन" उपन्यास में सैद्धांतिक रूप में व्यक्तिमन की प्रतिक्रियाओं को पूर्वस्थापित मूल्यों के निषेध के साथ अस्तित्ववाद के वरण की स्वतंत्रता के तथ्य साथ जोडकर देखने का प्रयास किया गया है । इस प्रयास में एक प्रतीक के रूप में गैंड हमारे सामने खडा होता है ।

उधर "अंधेरे बन्द कमरे " का हरबंस संकटबोध के शिकार पुरुष पात्रों का एक और उदाहरण प्रस्तुत करता है । बाहर से हरबंस बहुत ही आधुनिक बनने की कोशिश में लगा रहता है । लेकिन भीतर से

वह दकियानूसी स्वभाव का है । मॉर्डन बनने के भ्रम में और अपने को अत्यंत आधुनिक स्थापित करने के मोह में पत्नी नीलिमा को वह नृत्यकलाकार बनने का प्रोत्साहन देता है । परंतु उसकी रूढ़िगत मनोवृत्ति तब अपना फर्ज उठाती है जब पत्नी की लोकप्रियता सीमातीत होने लगती है । अहंग्रस्त मनोवृत्ति के साथ हीनता ग्रंथी से भी वह आक्रांत हो जाता है । इसके परिणामस्वरूप उसकी ज़िन्दगी दुविधाजनक हो जाती है ।

हरबंस की मानसिक स्थिति उसको असंतुलित निर्णयों की ओर ले जाती है । पत्नी से अलग हो जाना और अपनी एक अलग सी ज़िन्दगी बिताना, इसका प्रमाण है । इस स्थिति में वह संकटग्रस्त रहता है । एक ओर अपनी अहंवादिता, दूसरी ओर पत्नी को खो बैठने का एहसास और तीसरी ओर समाज के सामने अपना व्यक्तित्व बनाए रखने की विडंबना हरबंस को एक संकटग्रस्त व्यक्ति बना देती हैं । उपन्यास के अंत तक अपने ही द्वारा आयोजित विवशताओं का वह शिकार बना रहता है । कई दृष्टियों से हरबंस कोई निश्चित फैसले पर पहुँच नहीं पाता । स्वयं वह यह नहीं जानता कि वह क्या करना चाहता है । वैसे इस विशिष्ट स्थिति को आधुनिकताबोध का परिणाम हम मान सकते हैं । शहर के माहौल में दोहरी ज़िन्दगी जीनेवाले पतियों का और उनके मानसिक तनावों का चित्र हरबंस बडी ही स्वाभाविकता के साथ हमारे सामने प्रस्तुत करता है । परंपरागत दृष्टि से जिसे पौरुष कहते हैं, वह पुरुषत्वभाव कई दृष्टियों से हरबंस में लुप्त दिखाई पडता है । इस विरोधी स्थिति से मुक्त वह नहीं हो पाता । पौरुष के अभाव में पुरुष बने रहना, निर्णय लेने में असमर्थ होना,

आधुनिकता का ढोंग रचते हुए भी मन-ही-मन उससे नफरत करना, समय के साथ चलने की झूठी रस्म अदा करना, और समय से बहुत दूर रहना उसकी असफलताओं के परिणाम है । व्यक्ति की बाहरी और अन्दरूनी ज़िन्दगी, वैचारिक विकल्प और कर्मण्यता के स्तर पर होनेवाली पराजय भावना हरबंस की दुहरी ज़िन्दगी के परिचायक तत्व है ।

संकटबोध में फँसा हुआ शहर के मध्यवर्गीय पुरुष का वह एक सशक्त नमूना है ।

संकटबोध में फँसे हुए पात्रों की कोटि में "अलग अलग वैतरणी" के विपिन का नाम भी जोडा जा सकता है । वैसे "अलग अलग वैतरणी" एक ऐसे परिवेश का चित्र उपस्थित करता है जो कई कारणों से विषाक्त हो गया है । जमींदार का नष्ट हो जाना और उसी के परिणाम स्वरूप जीवन के स्तर में गिरावट का आ जाना, संबंधों में अजनबीपन का उभरना आदि से उत्पन्न स्थितियों का सामना करने के लिए ही लगता है कि विपिन का आगमन होता है । विपिन इन स्थितियों से जनित दुविधा का शिकार बन जाता है । पुष्पा से प्यार करते हुए भी उस प्यार को अधूरा छोडने के लिए वह बाध्य हो जाता है । इस कार्य में पुष्पा से अधिक वही जिम्मेदार ठहरता है । क्योंकि पुष्पा में उसके साथ भाग निकलने की जो इच्छा थी उसी को विपिन नामंजूर कर देता है । इसलिए प्रेम की निराशा से जनित स्थिति को भुगतने के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है ।

जानते हुए भी बुझारथ सिंह और उसके सहयोगियों के द्वारा किए जानेवाले अनीतिपूर्ण कार्यों के प्रति मौन रहना विपिन की कमज़ोरी है । अपने भाई के मान की रक्षा करना और परिवार पर कोई आँच न आने देना इस दृष्टि के पीछे प्रवर्तमान होनेवाली मनोवृत्ति है । एक प्रकार से विपिन अपने वैयक्तिक सुख और सम्मान की अपेक्षा परिवार और घराने के सम्मान को महत्वपूर्ण मानता है और इसी कारण पुष्पा से अपना संबंध भी सदा के लिए तोड लेता है । विपिन हमें उन पुराने आदर्शवान पुरुषों की याद दिलाता है जो त्याग और बलिदान के माध्यम से दूसरे लोगों की रक्षा के लिए प्रवर्तमान रहते हैं ।

मन्नू भण्डारी के "महाभोज" में एक और पात्र मिलता है जो द्वन्द्व और संघर्ष की स्थितियों का शिकार बना हुआ है । उपन्यास का कर्मठ और नीतिनिष्ठ पुलिस अफ़सर सक्सेना, उन इने-गिने अफ़सरों में से एक हैं जो इन्साफ के लिए अपने पद और भविष्य को भी जोखिम में डाल सकते हैं । हरिजन बस्ती की आगजनी और बिसू की मौत ऐसे मुद्दे हैं जिन पर वह सच्चाई के साथ प्रकाश डालना चाहता है । उधर सत्ता को सँवारनेवाले मुख्यमंत्री दा साहब इस अफ़सर से यही प्रतीक्षा करते हैं कि वह, उनके इशारों को समझकर अपराधियों की रक्षा करे और जनता को गुमराह करे । लेकिन सक्सेना को यह मंज़ूर नहीं । वह दुविधा में पडा रहता है । अंत में अंतकरण की पुकार को सुनकर वह बिसू की हत्या के प्रमाण इकट्ठा करता है ।

दा साहब इस कार्य के लिए उसे नौकरी से बर्खास्त कर देता है और डी. आई. जी की सहायता से अपना काम बना लेता है । उस अफसर की पदोन्नति होती है ।

परंतु एस. पी. सक्सेना की लडाई यहाँ खतम नहीं होती । वह अपने विश्वास और प्रमाणों पर आधारित होकर न्याय के मैदान में फिर एक बार अपनी किस्मत को आजमाने का प्रण ले लेता है । बर्खास्तगी के समय जो पीडा और आत्मक्षति का वह अनुभव करता है, वह उसकी मानसिक यंत्रणा का कारण बनता है । सक्सेना की समस्या सच को पहचानने के कारण बनी हुई है । साथ ही वह झूठ को छिपाना नहीं चाहता । राजनीति के खेल में पुलिस अफसरों को जो व्यावहारिक भूमिका अदा करनी पडती है उसको भूल जाना सक्सेना का "अपराध" है । परंतु सक्सेना उन निडर, कर्मयोगी पुलिस अफसरों का परिचय देता है जो भले ही टूट जाय, परंतु झुकना नहीं जानते । सक्सेना का संकटबोध व्यवस्था और आस्था के बीच होनेवाले संघर्ष का परिणाम है ।

अपने ही कर्मों के परिणामों को भुगतने के लिए अभिशप्त पात्रों की कतार में "कड़ियाँ" उपन्यास का महेन्द्र आता है । एक दृष्टि से महेन्द्र का संकटबोध परिस्थितियों का दिया हुआ लगता है । समय के साथ चल पाने की पत्नी प्रमिला की असमर्थता, समय के साथ चलने की महेन्द्र की प्रबल इच्छा, दोनों के बीच टकराव की स्थिति पैदा होती है । दूसरी

ओर अडजस्ट करने की प्रमिला की अक्षमता ही एक सीमा तक इस पात्र की विरोधी वृत्ति का आधार बनती हैं । पदोन्नति के साथ नए ढंग से जीने की चाहत, पत्नी को मॉर्डन बनाने की अभिलाषा, इन दोनों पर जब पानी फिरता है, तब महेन्द्र सुषमा की पनाहों में आता है । पत्नी की पुरानी दृष्टि और दकियानूसी मनोवृत्ति पति-पत्नी में अनबनी की सृष्टि करती है और महेन्द्र का जीवन अस्तव्यस्त होने लगता है । "कड़ियाँ" उपन्यास की घटनाएँ इस तरह मोड लेती है कि टूटी हुई कड़ियों को छोडकर महेन्द्र आगे मुड जाता है ।

महेन्द्र की यात्रा और अनैतिक कार्यकलाप उसे मुडकर देखने का अवसर नहीं देते । प्रमिला के बाद सुषमा को भी वह छोड देता है । अपनी समूची मानवीयता को भंग करते हुए अपने ही शिशु के पितृत्व का वह इनकार कर देता है । अहं और स्वार्थ की पराकाष्ठा पर किया गया यह निर्णय पत्नी को चोट पहुँचाने की दृष्टि से किया गया लगता है ।

परन्तु महेन्द्र के सारे कार्यकलापों का परिणाम आगे उसी के जीवन पर अभिशाप बनकर हावी होता है । पदोन्नति तो होती है । धन-दौलत की भी कमी नहीं रहती । लेकिन परिवार, पत्नी और बच्चों के सुख से वंचित होकर महेन्द्र को अकेला मारा-मारा फिरना पडता है । यह उसके फैसलों से उभरनेवाली स्थिति है । इस तरह महेन्द्र के जीवन में छाया हुआ संकटबोध अन्य पात्रों के जीवन में प्रकट होनेवाले संकट से बिलकुल भिन्न लगता है ।

"आप का बंटी" उपन्यास में आनेवाला बंटी यद्यपि बालपात्र है, फिर भी उसकी ज़िन्दगी से जुडी हुई घटनाएँ संकट के पहाड़ को उभारती हुई दिखाई पडती है । समूचे उपन्यास में घटित होनेवाली घटनाएँ बंटी के जीवन को ही आहत करती हुई प्रकट होती है । माँ-बाप का अलग हो जाना, माँ का दूसरे पति को ढूँढना, बाप का दूसरी पत्नी को ढूँढना यद्यपि उनकी अपनी अपनी ज़िन्दगी के पहलु है । फिर भी समूचे चुनाव का और समूचे संबंधों का प्रहार बंटी को ही सहना पडता है । डॉ. जोशी के साथ रहना उसके लिए इसलिए स्वीकार्य नहीं होता कि वह वहाँ अजनबीपन का एहसास करता है । इसलिए माँ शकुन के प्यार से वंचित होकर बंटी अंदर-ही-अंदर टूट जाता है । हर पल उसके लिए एक बोझ सा बन जाता है और वह वहाँ से अपने पिता के साथ चला जाता है । यह फैसला वह अपने मन से नहीं करता परिस्थितियों के कारण करता है ।

पिता अजय बंटी से प्यार तो करता है लेकिन उसे होस्टल में भर्ती कर अपनी जिन्दगी से दूर रखना चाहता है । इस तरह बंटी माँ और बाप के प्यार से वंचित होकर सबके होते हुए भी अनाथत्व का अभिशाप लिए जीने के लिए मज़बूर हो जाता है । बंटी उस शैशव का याद दिलाता है, जो तलाकशुदा पति-पत्नी के अपराध का शिकार बनकर गली-गली मारा फिरने के लिए अभिशप्त हो जाता है । बंटी की जिन्दगी आद्यंत इस स्थिति से जनित संकटबोध का शिकार बनी हुई है । कहीं-कहीं बंटी की प्रतिक्रियाएँ अपने उम्र से भी अधिक की लगती है । उसको प्रोब्लम चैल्ड कहकर किसी कोने में पटक देने से समस्या का अंत नहीं होता । समस्या और भी विकट हो जाती है ।

माँ के साथ न रहने से जनित दुःख और पीडा, नए पिता का माँ पर अधिकार, माँ का बंटी को पीटना, ये सब एक नन्हे जीवन पर आ पडनेवाली विपताएँ हैं जिनके सहते-सहते बंटी आत्मसंकट का प्रतीक बन जाता है । नई खुशी की खोज में पिता के यहाँ शरण लेने का सपना भी जब टूट जाता है तब बंटी का अनाथत्व और तज्जनित असीम संकट पराकाष्ठा को छूने लगता है । बंटी का त्रास, उसकी पीडा, उसकी मानसिक रूग्णता और प्रतिक्रिया नन्हे मानस पर अचानक टूट पडनेवाली तूफानी विषमताओं का परिणाम है, जिनका आयोजन घटना के माध्यम से हुआ है ।

आलोच्य उपन्यासों में संकटबोध की स्थितियों का पर्याप्त विवेचन मिलता है । इन स्थितियों में जीनेवाले स्त्री पात्र और पुरुष पात्र विशेष प्रकार की प्रतिक्रियाओं के माध्यम से अनुवाचक की आकांक्षाओं को पूरा करते हुए दिखाई पडते हैं । खासकर स्त्री पात्रों की दुविधा संकट की स्थिति को अधिक सटीक बना देती है । इन के भोगे हुए दुःख, पीड़ा और मानसिक संघर्ष, किसी एक विशेष स्थिति या समस्या के कारण जनित न होकर अलग-अलग कारणों से जन्मे हुए लगते हैं । कहीं-कहीं ये वैयक्तिक त्रास के शिकार बने हुए है तो अधिकतर परिस्थितियों में ये पुरुषों के उत्पीडन के परिणाम को भोगते दिखाई पडते हैं । पति-पत्नी के संबंधों में पडनेवाली दरारें आर्थिक विपन्नता के कारण उत्पन्न प्रतिक्रियाएँ, अहम् और अस्मिता की तलाश की स्थितियों से जुडी हुई अवधारणाएँ, पात्रों को संकटबोध की सीमारेखाओं के अंदर कैद कर देती है । परिस्थिति के बंदी ये पात्र मुक्ति की आकांक्षा को

लेकर संघर्षरत रहते हैं, लेकिन मुक्ति की संभावनाएँ उनके सामने दिखाई नहीं पडती । इस घुटपटाहट में असाधारण यंत्रणाओं को भोगते हुए स्त्री और पुरुष पात्र अपनी यात्रा को तय करते हैं ।

स्त्री और पुरुष पात्रों के बीच की संकट की स्थितियाँ समान धरातल पर नहीं उभरती । उनके अलग अलग आयाम दिखाई पडते हैं । इस कारण स्त्री संबंधी संकटबोध की संकल्पनाएँ एक ओर नारी की आज़ादी और स्वतंत्र जीवन को लेकर प्रस्तुत होती है तो दूसरी ओर नारी के शोषण और उसकी प्रतिक्रिया जानेवाले अमानवीय कृत्यों के प्रति जागरूकता की सृष्टि भी करती है । वस्तुतः समसामयिकता के प्रति एक सचेत दृष्टि की सृष्टि करने में ये संकटबोध की स्थितियाँ सकारात्मक भूमिका अदा करती है । पुरुष पात्रों की संघर्षात्मक स्थितियाँ, एक सीमा तक पुरुषों के लिए गए निर्णयों के परिणाम के आधार पर उभरती है तो दूसरी ओर परिस्थितियों के शिकार बनने के कारण जन्म लेती है । संक्षेप में संकटबोध की स्थितियों में उभरती हुई मानवीय चेतना की प्रतिक्रिया समसामयिक स्थितिबोधों की प्रतिक्रिया के रूप में जन्म लेकर नए मूल्यों की अवधारणा की प्रतिष्ठा की ओर संकेत करती हमारे सामने स्थिर होने लगती है ।

6. आलेखन की सीमाएँ :-

चर्चित औपन्यासिक रचना प्रक्रिया पर विचार करते समय लेखन की सीमाबद्धताएँ अपने सही मायनों में प्रकट होने लगती हैं ।

उपन्यासकारों ने मूल्यबोध के परिवर्तन से जन्मी हुई स्थितियों का यथार्थपरक आलेखन प्रस्तुत करने की कोशिश की है । परंतु कथ्यात्मक स्थितियाँ संपूर्ण रूप से यथार्थपरक हुई है या नहीं, यह विवादास्पद है । सनसनीखेल पैदा करने के लिए और पाठक के मन में असाधारण प्रतिक्रियाओं को उभारने के लिए पात्र और परिवेश की सृष्टि में एक सीमा तक एकांगी दृष्टिकोण को अपनाया गया है । सारी नैतिकता को ठुकराती हुई सामाजिक अस्तित्व को नकारती हुई निकल पडनेवाली नायिकाएँ और अप्रत्याशित रूप में होनेवाली किसी हादसे का शिकार बनकर संबंधों की नयी तलाश करनेवाली नायिकाएँ उपर्युक्त उपन्यासों में हमारे सामने आती हैं । उधर अपनी मन-मर्जी की पूर्ति के लिए भव्य महिलाओं का तिरस्कार करनेवाले, कुण्ठाग्रस्त मनस्थिति का शिकार होकर पत्नियों पर अविश्वास करनेवाले और लक्ष्यहीन होकर जीवन की अर्थवत्ता की तलाश करनेवाले पुरुष पात्र औपन्यासिक स्थितियों के दूसरे पक्ष को उभारते हैं । ये पात्र मूल्यबोध पर आए हुए संकट को दिखाने के लिए मात्र सर्जित किए गए हैं, ऐसा आभास हो जाता है । समानांतर रूप में मानसिक विकृतियों के शिकार, लैंगिक अराजकता को जन्म देनेवाले, हत्या के आधार पर आतंक को पनपानेवाले अपराधी पात्र एक ओर लेखन में सनसनीखेल पैदा करते है तो दूसरी ओर अविश्वास भी । "उखडे हुए लोग" का केशव और उसकी ज़िन्दगी की आंशिक कहानी, पिता पुत्री के पवित्र संबंध को सेक्स से कलुषित करने का घिनौना प्रयास सा लगता है । लाखों में एक ऐसी घटना हो सकती है । उपन्यास में उसको सार्वजनिक बना देना आलेखन की सीमाबद्धता भी नहीं विकृति भी है । "अलग अलग वैतरणी" में आए हुए हेडमास्टर और छात्र के बीच का संबंध और कल्पू के प्रति किया जानेवाला अत्याचार स्ववर्गरति का घिनौना उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए मात्र आयोजित लगता है ।

उधर "आतंक" शीर्षक उपन्यास में पुत्रवधू के साथ शारीरिक संबंध जोडनेवाले ससुर की कहानी कहकर एक नए आतंक की सृष्टि करने की कोशिश उपन्यासकार ने की है । उपर्युक्त संबंधों की चर्चा मूल्य-निषेध की और संबंधनिषेध की ज़ोरदार प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से प्रस्तुत की गई लगती है । पुत्रवधू के साथ संबंध जोडने की एक और स्थिति "उखडे हुए लोग" में देशबंधु के माध्यम से दिखाई गई है । समाज की मूल्यभ्रष्टता के नमूने को इन्हीं के माध्यम से राजेन्द्र यादव, शिवप्रसाद सिंह, नरेन्द्र कोहली आदि लेखकों ने आख्यायित किया है ।

जो भी हो, स्वातंत्र्योत्तर मूल्यबोध की स्थितियों में आए हुए परिवर्तन या गिराव यथार्थ से अवश्य जुडते हैं । यद्यपि प्रस्तुत यथार्थ की रूपरेखा परिवर्तित सी लगती है ।

परिवर्तित जीवनदृष्टि के आयाम जिस व्यापकता के साथ उपन्यासों में प्रकट हुए हैं, वे अवश्य ही मूल्यबोध में आए हुए परिवर्तन के सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं । वैसे उपन्यासों की कल्पित स्थितियों के बीच ही इस मूल्यबोध की नकारात्मक बोधवत्ता सर्जित होती है । अधिकतर लेखकों ने समसामयिक जीवन की विडंबनाओं का चित्र प्रस्तुत करते समय व्यापक परिवेश में प्रकट होनेवाली विद्रूपताओं का भी अंकन किया है । सामाजिक स्थितियों के विशेष आयोजन के परिणामस्वरूप जन्म लेनेवाली मानसिक विकृतियाँ मूल्यवत्ता को नष्ट करती हुई उच्छृंखलता को जन्म

देती है । लैंगिक अराजकता और भुक्तभोग की इच्छा मूल्यवत्ता पर समाज के एक विभाग के द्वारा किए जानेवाले प्रहार का परिणाम है । इसे आम आदमी की मानसिकता से यद्यपि हम नहीं जोड सकते, फिर भी इसे प्रवृत्तिगत मूल्यपरिवर्तन की अवधारणा का सूचक बोध हम मान सकते हैं ।

उधर महिला लेखिकाओं ने नारी की विशिष्ट मानसिकता को ध्यान में रखते हुए उसके व्यक्तित्व को समसामयिक संदर्भों में प्रतिशोध करते हुए दिखाया है । ये प्रतिशोध सामाजिक संदर्भों के प्रति मात्र न होकर उन मूल्यों के प्रति है, जो सदियों पुराने हो गए हैं और जिनकी एकांगी दृष्टि नारी के जीने के अधिकार को ही नकार देती है । वैसे ये पात्र अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होकर संघर्ष के माध्यम से अपने अस्तित्व की पहचान कराना चाहती है । स्वातंत्र्योत्तर कालीन परिवेश में जन्मी हुई नई पीढी की ये नायिकाएँ आधुनिकाएँ अवश्य हैं और आधुनिकताबोध से और पाश्चात्य नारी के संघर्ष से पूरी तरह परिचित है । वैसे नारी आन्दोलन के प्रभाव का परोक्ष स्पर्श इन नायिकाओं के चारित्रिक गठन में विद्यमान है । यद्यपि मोटे तौर पर इनको अभारतीयता के शिकार कहकर उनके प्रति विरोध प्रकट किया जा सकता है, फिर भी स्थितिबोध के आधार पर ऐसा करना उचित नहीं होगा । वास्तविकता यह है कि समूचे देश की युवापीढी की महिलाएँ शिक्षित होकर अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो गई है और पुरुष के आधिपत्य के प्रति विरोध प्रकट करने के काबिल हो गई है ।

वस्तुतः परिवर्तित जीवनदृष्टि के आयाम जिस वैविध्यपूर्ण भूमिकाओं से जुडकर प्रकट होते हैं, वे आलोच्य उपन्यासों की प्रासंगिकता को अधिक महत्वपूर्ण बना देते हैं । जीवन की सही स्थितियों के आलेखन को कल्पित संभावनाओं की पृष्ठभूमि में रखकर उनके संभावित परिणामों का लेखा जोखा प्रस्तुत करना सशक्त लेखन की और प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की परिचायिका प्रवृत्ति है । इस दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है ।

चौथा अध्याय

व्यक्ति-मूल्य और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

व्यक्ति मूल्य और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

समसामयिक जीवनबोध के स्वरूप को आयामित करते समय व्यक्ति, मूल्य और सामाजिक परिप्रेक्ष्य के पारस्परिक संबंधों पर विचार करना अनिवार्य बन जाता है । व्यक्ति की बोधवत्ता को एक बडी सीमा तक मूल्य संबंधी अवधारणाएँ और उनका सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रभावित करते हैं । वस्तुतः सामाजिक धरातल पर जन्म लेनेवाली स्थितियाँ व्यक्ति की दृष्टि को और उसकी अस्मिता की पहचान को समूल रूप में परिवर्तित करती हैं । इस दृष्टि से व्यक्तिबोध की सीमा रेखाएँ समसामयिक समाज की और मूल्यस्थिति की अन्दरूनी धाराओं से जुड जाती हैं । किसी भी कालखण्ड की रचना धर्मिता को परखने के लिए उपर्युक्त तत्वों का विश्लेषण अनिवार्य बन जाता है ।

1. व्यक्तिबोध की नयी व्याख्या :-

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ मानवीय धरातल पर इतने अधिक परिवर्तनों का आयोजन कर गई कि व्यक्ति अपनी सीमाबद्धता के अन्दर स्वयं एक प्रश्नचिह्न बन गया । भौतिक साधनों की प्राप्ति के लिए और सुख-सुविधाओं को जुटाने के लिए विश्व स्तर पर जो होड लग गयी थी उसी के प्रभाव से समाज की व्यवस्था को नकारते हुए, व्यक्ति चेतना को प्रतिष्ठित करने का प्रयास एक भौगोलिक प्रक्रिया के रूप में दृष्टिगत होने लगता है । अस्तित्ववादी चेतना, व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा को और भी गहरा रंग प्रदान करने लगती है । दोनों युद्धों की परिसमाप्ति और नए विश्व व्यवस्था की स्थापना, शीतयुद्ध का ठंडा पड जाना

नए राज्यों का आज़ादी प्राप्त कर लेना कुछ ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जिन्होंने व्यक्तिवादी चेतना को नए आयामों से जोडा है । इसी के साथ भारतीय परिवेश में भी व्यक्तिवादी चेतना एक नया स्वरूप धारण करने लगती है और जनमानस में नयी आकांक्षाओं का पल्लवन समानांतर रूप में होने लगता है । परिणामस्वरूप व्यक्तिबोध की जो अवधारणा जन्म लेती है वह पूर्वसंकल्पनाओं का निषेध करती हुई समाज की नई भूमिका की माँग प्रस्तुत करती है ।

व्यक्तिबोध सामान्य रूप में उस अवधारणा का स्वरूप प्रस्तुत करता है जिससे व्यक्ति अपने अस्तित्व से जुडे हुए सभी सवालों का हल करते हुए चेतनात्मक स्तर पर अपनी अस्मिता की तलाश करता हुआ एक इकाई के रूप में उभरता है । व्यक्ति की आत्मवत्ता उसकी अपनी स्वतंत्रता का चयन करती है और विशिष्ट ढंग से जीने का दायित्व भी उसे सौंपती है । परंतु सामाजिक पाबन्दियाँ, परंपरागत मूल्य, नैतिकता के मानदण्ड, आर्थिक बन्धनों की सीमाएँ उसे मुक्त रूप में कार्यक्षेत्र में प्रवर्तमान होने नहीं देती । व्यक्तिबोध ऐसी स्थिति में कुण्ठित होता है और उन संभावनाओं का अन्वेषण करता है जहाँ उसे मुक्ति का एहसास हो सकता है । यहाँ से व्यक्तिबोध की कल्पित स्थितियाँ जन्म लेती है जो यथार्थ से बिलकुल अलग दिशा की ओर मुडती है । परिणामतः व्यक्ति बोध एक ऐसा अवधारणात्मक रूप धारण करने के लिए मज़बूर हो जाता है, जिससे यथार्थ का संबंध जुडता भी है और कटता भी है ।

जहाँ व्यक्तिबोध का संबंध समाज, नैतिकता, धर्म, राजनीति और अर्थशास्त्र से जुडता है, वहाँ एक सामाजिक जीव के रूप में व्यक्ति खडा होता है । स्वतंत्र मान्यताओं पर जब प्रहार होता है तब व्यक्तिबोध आक्रोश

का स्वर ग्रहण कर लेता है और निषेध के लाखों भवंडर खडा कर देना चाहता है । दूसरी स्थिति में जहाँ निषेध प्रखर होता है वहाँ सामाजिक संघर्ष की कहानी का आरंभ होने लगता है । बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के व्यक्ति ने यह महसूस किया है कि सदियों से आनेवाले मूल्य अव्यावहारिक और अप्रासंगिक हो गए है और उनके स्थान पर नई बोधात्मकता की प्रतिष्ठा होनी चाहिए । इस प्रसंग में मूल्यविस्थापन और स्थापन की प्रक्रिया शुरू होती है और यह स्थिति संघर्षपूर्ण स्थितियों को जन्म देती हुई सामाजिक अस्थिरता को आंशिक रूप में प्रश्रय देती है ।

उपर्युक्त स्थितियों में रूपायित होनेवाली व्यक्ति की बहुमुखी दृष्टि जिन उपयोगितावादी मुद्दों को स्वीकारती है और उनके समर्थन के लिए जिन व्यावहारिक पक्षों का अनुमोदन करती है, वे ही आगे व्यक्तिवादी मूल्य बनकर समाज के बीच प्रवर्तमान होते है । परंतु समाज इस प्रकार जन्मे हुए वैयक्तिक मूल्यों को एकदम स्वीकारता नहीं । जब ज़्यादा से ज़्यादा लोग व्यक्तियों के द्वारा स्वीकारे गए व्यावहारिक सुझावों का समर्थन करते हैं तब व्यक्तिवादी मूल्य अनिषेध्य बन जाते हैं और समाज धीरे-धीरे उनको मान्यता देने लगता है । वस्तुत: व्यक्तिबोध, कभी-कभी स्वार्थ की सीमा रेखाओं से आबद्ध भी हो जाता है । ऐसी स्थितियों में व्यक्तिबोध की क्रियाविधियाँ सामाजिक स्तर पर निषेध की ही स्थापना कर सकती है यह व्यक्तिबोध का नकारात्मक पक्ष है । व्यक्तिबोध का नकारात्मक पक्ष समाज के हितों के विरुद्ध जब खडा होता है तब उसको एक विशेष दृष्टि से देखने के लिए समाज मजबूर होता है । इस स्थिति में नकारात्मकता को मात्र प्रश्रय देनेवाला व्यक्तिबोध कभी-कभी अनैतिकता से जुडकर अपराध की सीमा तक जा पहुँचता है ।

2. अस्तित्व की समस्या और मूल्यों का निषेध :-

व्यक्तिबोध जब अस्तित्व की समस्या से जुडता है तब उसकी सीमाबद्धता अनेक प्रश्नों से जुडकर खडी होने लगती है । व्यक्ति का अस्तित्व समाज की मूल्य संहिता से साधारणतया जुडा रहता है । परंतु व्यक्ति जब अपने अस्तित्व के लिए स्वतंत्र मूल्यों का रूपायन करता है, तब संघर्ष की स्थिति पैदा होती है । व्यक्ति के लिए अपना अस्तित्व सबसे प्रमुख तथ्य है जिसको पूर्ण रूप से स्वीकारने के लिए समाज तैयार नहीं । परिवेशजन्य स्थितियों में आनेवाले परिवर्तन से मूल्यों की नई प्रतिष्ठा एक सहज आवश्यकता बन जाती है । व्यक्ति इस आवश्यकता को जल्दी स्वीकार लेता है, जबकि समाज मूल्यों के परिवर्तन को धीरे ही स्वीकारना उचित समझता है । इसका परिणाम यह है कि व्यक्ति अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए स्वार्थ की सुरक्षा के लिए इच्छानुसार सुविधाजनक मूल्यों को स्वीकारने के लिए तैयार हो जाता है । अस्तित्व की समस्या को लेकर स्वीकारी जानेवाली वैयक्तिक मान्यताएँ, सामाजिक मर्यादाओं के निषेध की स्थितियों तक पहुँचती है । मूल्यरूपायन की पृष्ठभूमि में व्यक्तिबोध की और उससे जन्म लेनेवाली दृष्टि की प्रतिक्रिया, व्यक्ति और समाज के मूल्यगत संघर्ष की अंतर्धारा है ।

व्यक्तिबोध का सकारात्मक पक्ष सामाजिक बोध को प्रभावित कर नई दिशा की खोज को कभी-कभी सार्थक बना देता है । ऐसे व्यक्तित्व के अधिकारी कुछ ही लोग होते हैं जिनको हम समाजसेवी या सामाजिक परिष्कर्ता के रूप में पहचानते हैं । ऐसे लोगों के प्रयास से जो मूल्य सकारात्मक स्थिति में निर्धारित होते हैं, वे स्वस्थ परंपरा के सर्जक बनते हैं । परंतु भौतिकता एवं

स्वार्थबोध से प्रभावित समाज में इस प्रकार की सकारात्मक मूल्य प्रतिष्ठा की संभावनाएँ बहुत ही कम दिखाई पडती हैं । अगर कोई व्यक्ति ऐसा करना भी चाहता है तो उसके विचारों का अनुसरण करनेवाले अनुचरों की कमी भी रह जाती है । इस परिस्थिति में उस विशेष व्यक्तिबोध की प्रतिष्ठा करने वाले कार्यकर्ता का प्रयास, एक प्रयास मात्र ही रह जाता है, कार्यान्वयन के क्षेत्र तक नहीं पहुँच पाता है । वस्तुतः सकारात्मक व्यक्तिबोध का प्रभाव ग्रहण करने में समाज हमेशा पिछडता है । जब कि व्यक्ति के नकारात्मक बोध से जनित स्थितियों से उसके आतंक से, समाज जल्दी ही चौकस होने लगता है ।

उपर्युक्त विशिष्ट स्थितियों में मूल्य ग्रहण की अपेक्षा मूल्य-निषेध एक स्वाभाविक परिणाम के रूप में जन्म लेने लगता है । नई पीढी की मान्यताएँ जल्दी ही इस स्थिति को ग्रहण करती हैं और उससे प्रभावित होने लगती है । मूल्यसंक्रमण की स्थितियों में व्यक्तिबोध का निषेधात्मक पक्ष अधिक सक्रिय होता है और सामाजिक बोध पर अपना गहरा प्रभाव डालता है । नई पीढी परिवर्तन के नाम से उसको स्वीकारती है और निषेध को भी नई मान्यता के अन्दर प्रतिष्ठित कर लेती है । पुरानी पीढी के लोग उसे पीढी का अंतर समझते हैं, पीढ़ियों के अन्तराल से जनित मूल्य के रूप में इसको स्वीकारते हैं । इस तरह मूल्यनिषेध की व्यापक सीमारेखाएँ व्यक्ति और समाज के बीच में स्थान ग्रहण करने लगती है ।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय परिवेश में मूल्यनिषेध की स्थितियाँ अधिक प्रखर होने लगती है । आज़ादी के बाद की

पृष्ठभूमि में व्यक्तिबोध के विकास के परिणाम से मात्र नहीं, अपितु अन्य सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्थितियों के घात प्रतिघात से उत्पन्न प्रतिक्रिया के कारण भी मूल्यनिषेध जन्म लेने लगता है । जीने की मज़बूरियाँ और न जीने देने की स्थितियाँ व्यक्तिसंघर्ष को जन्म देती है और यह व्यक्तिसंघर्ष सामाजिक नैतिकता में प्रवेश करनेवाली सत्ता की कलुषित मनोवृत्ति को चुनौती देता है । परिणामस्वरूप नई पीढी के सामने निषेधात्मक पक्षों का असीम भण्डार खुलने लगता है । झूठ बोलना, बेईमानी करना, रिश्वत लेना, भ्रष्ट तरीकों से धन प्राप्त करना, सत्ता की बर्बरता की सहायता से अमानवीय कृत्य करना, धन और प्रभुता के बल पर कानून से बच निकलना, आतंकपूर्ण व्यवहार से लोगों को परेशान करना, स्वार्थ की प्रतिष्ठा के लिए जघन्य अपराध करना, कुछ ऐसे पक्ष हैं जो व्यक्तिबोध के निषेधात्मक पहलुओं को उभारते हैं । स्वातंत्र्योत्तरकालीन जीवनदृष्टि में आए हुए मूल्यबोध के परिवर्तित अंश इन्हीं वैयक्तिक और संघटित व्यक्तिबोध के नकारात्मक पक्ष के परिणाम है ।

इस काल में रचित साहित्य में, खासकर उपन्यासों में इस निषेध का कोई-न-कोई पहलू अवश्य उभरकर आता है । आलोच्यकालीन रचनाओं में व्यक्तिबोध और सामाजिक संघर्ष की स्थितियाँ वैविध्यात्मक परिबोधों से जुडकर उभरती है, जहाँ स्त्री और पुरुष अपनी-अपनी चेतना की खण्डित अवस्था में नई ज़मीन की तलाश करते दिखाई पडते हैं । रचना धर्मिता के विविध पक्ष घटनाओं की प्रतिकूलता के बीच पनपनेवाली अस्थिरता का अनुमान लगाने में बडी सीमा तक मदद पहुँचाते हैं । वस्तुतः पात्र संकल्पना के बहु-आयामी पक्षों को कथ्यात्मक संकीर्णता के साथ जोडकर देखे बिना मूल्यबोध के

नकारात्मक पक्ष और तज्जन्य संकट का एहसास नहीं हो सकता ।

3. व्यक्ति और समाज का संघर्ष :-

व्यक्ति और समाज के बीच के संघर्ष को समीक्षित कृतियों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । रचनाकारों ने अधिकांशतया ऐसे कथ्य को चुना है जहाँ समाज के विशेष घटनात्मक पहलू उभरते हैं । व्यक्ति का संघर्ष कभी व्यक्तियों से है तो कभी विश्वास और मान्यताओं के प्रति है, तो कभी सत्ता से प्रतिष्ठित रूढ़मूल व्यवस्था से है । संघर्ष के ऐसे परिदृश्य दिखाई पड़ते हैं जहाँ पुराने मूल्य खण्डित होकर बिखरते हैं और नैतिकता को चुनौती देते हुए नए मूल्य खण्डहरों से उभरते हैं । यथार्थ की पृष्ठभूमि पर अंकित की गई घटनाएँ थोड़ी बहुत अतिशयपरक होते हुए भी विश्वसनीय अवश्य है ।

व्यक्ति और समाज के संघर्ष को रूपायित करनेवाले उपन्यासों में कई पहलू उभरते हैं जिनका प्रभाव अलग-अलग क्षितिजों से जुड़ता है । वैसे समाज की एक निश्चित व्यवस्था होती है और विशिष्ट मान्यताएँ भी । व्यक्ति जब अपने रास्ते को तय करने के लिए निकल पड़ता है तब जाने अनजाने में बनी बनाई व्यवस्था के विरोधी पक्षों से भिड़ने के लिए बाध्य हो जाता है । किसी भी कार्य क्षेत्र की गहराई में ऐसे तथ्य विद्यमान होते हैं जो बाहरी दृष्टि से छिपे रहते हैं । व्यवस्था की ऐसे अनदेखी विरोधोक्तियों से जुड़ते समय व्यक्ति का कभी-कभी अपना सबकुछ नष्ट होने लगता है । इस त्रासदायक स्थिति का

और उससे जन्म लेनेवाली पीडा का अंकन करनेवाले बहुत सारे उपन्यासों में "यह पथ बन्धु था" का विशेष स्थान है । इसका नायक श्रीधरबाबू होनहार है । छल कपट से दूर है । व्यवस्था की अन्दरूनी विषाक्त ज्वालाओं को पहचानने में असमर्थ है । आज़ादी का संघर्ष उसकी दृष्टि में त्याग, बलिदान और आत्महवन का क्षेत्र लगता था । परंतु अपनी नौकरी, पत्नी और परिवार को त्यागकर आदर्श के संबल पर जब वह इस कार्यक्षेत्र में प्रवेश करता है तब उसे अनुभव होने लगता है कि इस राजनीति की, देश भक्ति की, आज़ादी की व्यवस्था में कहीं कुछ ऐसा है, जो स्वार्थ की कालिमा से, नेतागिरी की अभिवांछा से और शोषण के कालुष्य से भरा हुआ है । धीरे-धीरे वह यह महसूस करता है कि इस संघर्ष में नेता बनने के लिए आत्मदान की ज़रूरत नहीं है । ईमानदारी की ज़रूरत नहीं है । बस ईमानदारी का ढोंग रचना मात्र आवश्यक है । आत्मदान का बहाना बनाना मात्र आवश्यक है । उसे महसूस होता है कि नेतागिरी के उच्च पद तक पहुँचने के लिए अनेक आदर्श प्रेमी कार्यकर्ताओं को अपने पैरों तले कुचलना पडता है । नेताओं के पंजे में फँसने के बाद देशसेवी की मुक्ति नहीं हो सकती । उसी प्रकार स्वंतत्रता संग्राम के बाहरी स्वरूप से भिन्न, आंतरिक छीना-झपटी कुर्सी की प्राप्ति के लिए धाँधली, गुडबन्दी, चापलूसी, समय के अनुसार चाल बदलने का कौशल, आदि के अभाव में उस व्यवस्थित राजतंत्र के उच्च नेतृत्व के पद तक पहुँचना असंभव है ।

श्रीधर बाबू की वापसी और हताशा यह दिखाती है कि देश की आज़ादी की लडाई में सच्ची ईमानदारी के साथ आत्मसमर्पण के भाव के साथ कार्यरत होनेवाले सब कुर्सी के खेल में हारकर वापस लौट गए हैं

और उनका नामोनिशान तक किसी भी इतिहास के पृष्ठ पर बाकी नहीं बचा है । व्यक्ति के संघर्ष के अंत में, इस वापसी के अंतिम-चरण में उसे जो कुछ भी मिलता है, वह है नारकीय जीवन बिताकर मरनेवाली पत्नी, ससुराल की क्रूरता से पंगु बननेवाली बेसहारा बेटी और परिवार के लोगों की आँखों की नफरत । पत्नी सरस्वती को खोकर, बेटी गुणवती को अपाहिज होते देखकर, भाई श्रीमोहन और श्रीवल्लभ को अलग होते देखकर, श्रीधर बाबू का हृदय पीडा की अनकही सीमाओं का एहसास करता है और चीखता कराहता रह जाता है । परंतु उसकी आंतरिक व्यथा को, चीत्कार को, निराशा को और कुंठा को समझे बिना समय का पहिया आगे घूम जाता है । अनदेखी व्यवस्था के प्रति आदर्शों के आधार पर संघर्ष करनेवाले व्यक्ति जब व्यवस्था की भ्रष्टता को स्वीकारने में असमर्थ होते हैं तब उनकी इस तरह से दुर्गति होती है । भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास का सबसे अधिक दर्दनाक कथानक यहाँ बनता है ।

सत्ता की भ्रष्टता से संघर्ष :-

"उखडे हुए लोग" में उपन्यासकार ने सत्ता की भ्रष्टता एवं शोषण से पीडित व्यक्तियों का चित्रण किया है जो धीरे-धीरे सत्ता के साथ संघर्ष करने में सक्षम हो जाता है । उपन्यास में सत्ता के प्रतिनिधि बनकर उभरनेवाले देशबन्धु के शोषणयुक्त व्यवहारों का शिकार बननेवाले सूरज, शरद और जया उपन्यास के अंत तक आते-आते उनके सामने खडे होने में समर्थ बन जाते हैं । देशबन्धु के साथ संघर्ष करने में सूरज ही सफल होता है और नौकरी से बर्खास्त करने के बाद देशबन्धु के पंजे से वह बच निकलता है । जया और

शरद भी सात दिनों तक शोषण का शिकार बनकर जीने के बाद देशबन्धु के जाल से बच निकलते हैं ।

उपन्यास में सूरज देशबन्धु के "स्वदेश महल" का कैदी बनकर सामने आता है । बौद्धिक स्तर पर अपना शोषण करनेवाले देशबन्धु के प्रति आंतरिक स्तर पर क्रोध और घृणा रखते हुए भी वह उसका खुलकर विरोध नहीं करता । किंतु शरद और जया की संघर्षमयी ज़िन्दगी के साथ अपने जीवन की तुलना करने से सुप्तावस्था में पड़ी उसकी आंतरिक शक्ति और प्रतिबद्धता जाग उठती हैं । परिणामस्वरूप "बिगुल" जहाँ सूरज की प्रतिभा का प्रयोग केवल देशबन्धु के इच्छानुसार होता था वहाँ मज़दूरों पर होनेवाले शोषण एवं गोली काण्ड के विरुद्ध आवाज़ उठाने का प्रयास सफल होने लगता है । अंत में गुलामी की नौकरी से मुक्त होकर वहाँ से चले जाने में सूरज सफल होता है ।

जया और शरद समाज को सक्रिय रूप से बदलने के लिए निकल पड़ते हैं और उन्हें सहारे के रूप में देशबन्धु ही मिल जाता है । देशबन्धु के जाल में फँसने के बहुत समय बाद ही वे लोग अपनी स्थिति के प्रति सजग होते हैं । सत्ता द्वारा प्रदत्त सुरक्षा की छाया में देशबन्धु प्रतिभा के स्तर पर जिस प्रकार सूरज का शोषण करता रहा उसी प्रकार शरद का भी शोषण करता है । सत्ताधारी व्यक्ति द्वारा प्रदत्त सुरक्षा की छाया कितनी खतरनाक और त्रासदायक है इसका पता जया और शरद को होता रहता है । सत्याभिल्स की घटना से शरद के मन में देशबन्धु के प्रति विरोध प्रकट करने की इच्छा होती है किन्तु वह असमर्थ रह जाता है । सरदार पटेल की मृत्यु के बाद भी देशबन्धु

पार्टी में लगा रहता है । वह वहाँ से तस्वीरें खींचना छोडकर घर लौटता है । पद्मा की मृत्यु के बाद जब जया उससे इस दल-दल से बच निकलने के लिए कहती है तब वहाँ से भाग निकलता है । ये दोनों पात्र व्यक्ति के, सत्ता के साथ संघर्ष की स्थितियों का और संघर्ष से जूझने की शक्ति को प्राप्त करने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजनीतिज्ञों ने एवं सत्ता की छत्रछाया में पनपनेवाले नेता लोगों ने किस प्रकार व्यक्तियों का शोषण किया है और उनके साथ संघर्ष करने में और सफल होने में व्यक्ति को किन किन स्थितियों का सामना करना पडा है इसका सशक्त चित्र "उखडे हुए लोग" में उभरता है ।

पारिवारिक मान्यताओं के प्रति संघर्ष :-

व्यक्ति और समाज का संघर्ष परिवार संबंधी मान्यताओं के विरुद्ध भी होता है । "अंधेरे बन्द कमरे" में नीलिमा और हरबंस के द्वारा मोहन राकेश ने और "कडियाँ" में महेन्द्र और प्रमिला के परिवार को लेकर भीष्म साहनी ने परिवार संबंधी मान्यताओं के प्रति व्यक्ति के संघर्ष की सशक्त अभिव्यक्ति दी है ।

"अंधेरे बन्द कमरे" में नीलिमा और हरबंस का दांपत्य जीवन स्नेह और घृणा का मिश्रण है । दोनों को साथ-साथ जीने में कठिनाई का अनुभव होता है । पत्नी को छोडकर पारिवारिक संबंध की ऊब से बचने के लिए

हरबंस लंदन चला जाता है । नीलिमा भी उसके जाने के पक्ष में है "यहाँ रहकर शायद उसे लगता है कि वह जो कुछ करना चाहता है, वह मेरी वजह से नहीं कर पा रहा । मैं भी सोचती हूँ कि अगर सचमुच ऐसा है और मेरी वजह से ही उसे अपनी जिन्दगी में रुकावट महसूस होती है तो मैं उसके रास्ते में रुकावट क्यों बनूँ ।"[1]

एक तरह से टूटे हुए इस दांपत्य संबंध फिर से जोडने की आशा होती है, हरबंस के नीलिमा को लंदन बुलाने से । किंतु नीलिमा के लंदन आने के बाद हरबंस जीवन को नए सिरे से आरंभ करने की बात भूल जाता है । दोनों पहले जैसे ही तनावपूर्ण जीवन बिताने लगते हैं । नीलिमा नृत्य प्रदर्शन के दौरान बर्मी कलाकार ऊबानू के साथ जीने का निर्णय लेती है और बाद में उससे भी मुक्त होती है । लौटकर आने के बाद भी हरबंस और नीलिमा का संबंध समझौते की ड्योढी पर ही खडा होता है । इस प्रकार पारिवारिक संबंधों को लेकर पुरानी जो मान्यताएँ थी उन सबको ठुकराने वाले जीवन है हरबंस और नीलिमा का । पति का पत्नी और बच्चे को छोडकर चले जाना, पत्नी का दूसरे व्यक्ति से संबंध जोडना, अलग होकर रहने का निश्चय करना आदि कुछ ऐसे तथ्य है जो पारिवारिक जीवन से संबंधित मान्यताओं के विरुद्ध है । इस संघर्ष में हरबंस और नीलिमा के व्यक्तित्व की विजय नहीं होती और पारिवारिक जीवन संबंधी मान्यताओं की भी ।

"कड़ियाँ" उपन्यास में महेन्द्र और प्रमिला के दांपत्य संबंध

---

1. अंधेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 126

परिवार संबंधी मान्यताओं के प्रति व्यक्ति का संघर्ष और उससे नई मान्यताओं के उदय का भी चित्र उभारता है । पारिवारिक संबंध से जुडी हुई मान्यताएँ रूपी कड़ियों को तोडे जाने के या टूट जाने के बाद उनके नए सिरे से रूपीकृत होने की स्थिति महेन्द्र और प्रमिला के जीवन में होती है । इसमें, महेन्द्र, पत्नी प्रमिला के घरेलूपन से ऊब जाता है और ऑफिस के क्लर्क सुषमा के साथ संबंध बना लेता है । इसको लेकर जब झगडा होता है तो उसे लगता है कि पत्नी उसके लायक नहीं है । महेन्द्र के मुँह से "मैं तुम्हारे साथ नहीं रह सकता, यह शादी भूल थी । मैं ने फैसला कर लिया है ।"[1] आदि बातें सुनकर प्रमिला टूट जाती है । इस टूटन की चरम स्थिति तक वह तब पहुँचती है जब दूसरे बच्चे के पितृत्व को महेन्द्र अस्वीकार करता है । पुरानी मान्यताओं को महत्व देने के कारण प्रमिला को क्या-क्या सहना पडा इसके बारे में सोचकर वह जाग उठती है । परिवार संबंधी पुरानी मान्यताओं को छोडकर स्वावलंबी होकर पति से अलग ही जीने का निर्णय वह लेती है । महेन्द्र भी अफसरों के समान जीवन बिताने की इच्छा में पत्नी, बच्चे, सुषमा आदि के साथवाले अपने संबंध को ठुकराकर जीने लगता है । इसी प्रकार इस उपन्यास में परिवार संबंधी मान्यताओं के साथ व्यक्ति का संघर्ष, उसकी विजय और नई मान्यताओं के गठन का भी चित्रण प्रस्तुत हुआ है ।

भ्रष्ट राजनीति में फँसी हुई ज़िन्दगी का संघर्ष :-

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजनैतिक क्षेत्र में भ्रष्टता की जो आँधी आई उसमें खडे होने के लिए व्यक्ति को जितना संघर्ष करना पडता है

---

1. कड़ियाँ - भीष्म साहनी - पृ. 61

इसका सशक्त वर्णन उपन्यासों में पात्रों के माध्यम से हुआ है । श्रीलाल शुक्ल के "रागदरबारी" एवं मन्नू भण्डारी के "महाभोज" में राजनीति के क्षेत्र में आई हुई भ्रष्टता के साथ संघर्षरत व्यक्तियों के जीवन का चित्रण हुआ है ।

"रागदरबारी" में राजनैतिक भ्रष्टता के शिकार शिवपालगंज नामक गाँव की कहानी है जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के बीस वर्ष बाद भी प्रगति से वंचित है । गाँव के राजनीति के केन्द्र में वैद्यजी हैं, जो शिवपालगंज के मुखिया, छंगामल इन्टर कॉलिज के मैनेजर और को-ऑपरेटिव यूनियन के मैनेजिंग डाइरेक्टर है । कॉलिज में होनेवाली अत्याचारपूर्ण कार्यकलापों का विरोध करनेवाला है खन्ना मास्टर मालवीय आदि । छंगामल कॉलिज में प्रिंसिपल अपने रिश्तेदारों को अध्यापक बनाता है उन्हें सीनियर कहकर स्पोर्टस आदि का चार्ज भी देता है । इन सभी के शिकायत करता है खन्ना मास्टर । उसकी शिकायत सुनकर गलदिन का उत्तर है "वैद्यजी का रिश्तेदार न मिले होंगे, बेचारे ने अपने रिश्तेदार को लगा दिए । यही आज का युगधर्म है ।"[1] इस प्रकार की प्रतिक्रिया ही खन्ना मास्टर को सब कहीं मिलती है । कॉलिज के मैनेजिंग डायरेक्टर के चुनाव के समय वैद्यजी के आदमी विरोधी पक्ष के व्यक्तियों को कॉलिज में आने से रोकते हैं । इसके विरोध में खन्ना एवं मालवीय शिकायत करते हैं । संघर्ष के फलस्वरूप उन्हें नौकरी से दरखास्त किया जाता है । उसी प्रकार व्यवस्था के विरोध में खड़े होनेवाले लगड को जिसने नकल के लिए तहसील में दरखास्त दी थी और बिना रिश्वत के प्राप्त करने की कोशिश की थी असफलता ही मिलती है ।

---

1. रागदरबारी - श्रीलाल शुक्ल - पृ. 155

कुलमिलाकर इस उपन्यास की स्थितियाँ राजनीतिक भ्रष्टता की शिकार बनाई गई ज़िन्दगी का बहु आयामी पक्ष प्रस्तुत करती है । कालेज की शिक्षा से लेकर सहकारी संघ के गबन तक की समस्याएँ और उनमें शरीक होनेवाले पात्र "रागदरबारी" की कथ्यात्मकता को सभी दृष्टियों से जीवंत बना देते है ।

"महाभोज" में भी राजनैतिक भ्रष्टता में फँसे हुए जीवन के संघर्ष को उभारा गया है । उपन्यास में अन्याय के प्रति आक्रोश करनेवाला सशक्त पात्र है बिसू । बिसू उपन्यास का या भ्रष्टाचार पूर्ण व्यवहारों का विरोध करता है । हरिजन टोली में आगजनी आदि का प्रमाण जुटाकर दिल्ली ले जाने का प्रयत्न करता है । आगजनी एवं बिसू की मौत से बिंदा राजनीतिक नेताओं की असलियत पहचानता है । दा साहब के भाषण के समय वह बीच में बोलने की हिम्मत दिखाता है । "अरे दा साहब, काहे यह नौटंकी कर रहे हो यहाँ ? हरिजनों को जिन्दा जला दिया गया और आपकी सरकार और आपकी पुलिस तमाशा देखती रही और महीने भर से खुद तमाशा कर रही है । हुआ आज तक कुछ ?..... जैसे सुकूल बाबू, तैसे आप ।"[1] मुख्यमंत्री के भाषण के बीच इस प्रकार बातें करने का और सच्चाई एवं ईमानदारी की लडाई लडने के परिणाम स्वरूप उसे बिसू का हत्यारा कहकर जेल भेजा जाता है । बिंदा के समान ही राजनीति की भ्रष्टता के विरोध करनेवाला पात्र है एस. पी. सक्सेना । बिसू की मौत की जाँच पड़ताल में वह यथार्थ को महत्व देता है । सत्ताधारी वर्ग के विरुद्ध रिपोर्ट तैयार करने के कारण उसे नौकरी से सस्पेंड किया जाता है ।

---

1. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 68

ईमानदारी के कारण भ्रष्टतापूर्ण राजनीति से यानी मंत्रिमण्डल से लोचन बर्खास्त किया जाता है । अकेले रहकर सत्ता की भ्रष्टता के प्रति आवाज़ बुलन्द करने के कारण वह भी पराजित हो जाता है ।

"महाभोज" उस असहाय और पीडित हरिजन वर्ग की छटपटाहट की कथा प्रस्तुत करता है जो राजनीति का शिकार बन गया है । उन लोगों की ज़िन्दगी की कोई कीमत नहीं होती, जो शक्तिहीन है, अशिक्षित है और सभी प्रकार से शोषित है । स्वातंत्र्योत्तरकालीन जीवन में राजनीति की भ्रष्टता के माध्यम से आए हुए दुष्परिणामों का बहुत ही विशद चित्र महाभोज प्रस्तुत करता है । परोक्ष रूप में लेखिका ने यह सिद्ध किया है कि, प्रजातंत्र शासन व्यवस्था में व्यक्ति के अस्तित्व का कोई विशिष्ट मूल्य नहीं है ।

अस्मिता की तलाश :-

उषा प्रियंवदा के "रूकोगी नहीं राधिका" और मन्नू भण्डारी के "आप का बंटी" में अस्मिता की तलाश में संघर्षरत व्यक्तियों की ज़िन्दगी का ब्योरा मिलता है । सामाजिक स्थितियों के साथ कभी न समझौता करनेवाली वैयक्तिक दृष्टि की झलक "आप का बंटी" में मिलती है ।

"आपका बंटी" में शकुन और अजय को एक साथ जीना बहुत कठिन लगने लगता है । दोनों अहम् की भावना से पीडित है । शकुन

और अजय अपनी अस्मिता की खोज में दूसरे को बाधा समझकर अलग होकर जीने लगते हैं । शकुन अपने को पराजित महसूस करती है । अजय की दूसरी शादी और तलाक के प्रस्ताव से उसकी पराजय की भावना और भी गहरी हो जाती है । अजय शकुन को और शकुन अजय को किसी-न-किसी प्रकार आघात पहुँचाना चाहते हैं ।

अजय और मीरा के विवाह की बात सुनकर शकुन डा.जोशी के बारे में सोचती है । डा.जोशी के साथ उसकी शादी केवल अजय के अहं को चोट पहुँचाने के लिए ही होती है । अजय भी बंटी को शकुन से अलग करके छात्रावास में रखना चाहता है । इसके पीछे बंटी की भलाई की आकांक्षा है, साथ-ही-साथ शकुन से बंटी को अलग करने से शकुन को पराजित करने का सुख भी । दोनों के इन मनोवृत्ति का स्वरूप शकुन के विचार में स्पष्ट दिखाई पडता है । "सच, हम लोग शायद बंटी को मात्र एक साधन ही समझते रहे ! अपने-अपने अहं, अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाओं, अपनी-अपनी कुण्ठाओं के संदर्भ में ही सोचते रहे । बंटी के संदर्भ में कभी सोचा ही नहीं ।"[1]

शकुन अपनी अस्मिता की तलाश में अजय से अलग होती है, दूसरा विवाह करती है, बंटी को अजय के पास भेजकर अपनी नई ज़िन्दगी को सुखपूर्ण बनाने का प्रयत्न करती है । अजय भी शकुन से अलग होने के बाद केवल बंटी से ही मिलता रहता है । मीरा से शादी कर लेता है, और जब बंटी उसके साथ जाता है तो उसे छात्रावास में दाखिल कर देता है । अहम्

---

1. आप का बंटी - मन्नू भण्डारी - पृ. 203

की भावना कुण्ठा और महत्वाकांक्षाएँ अजय और शकुन को एक दूसरे से अलग करती हैं ।

समसामयिक जीवन की स्थितियाँ व्यक्ति को अपनी आज़ादी की रक्षा के लिए नए ढंग से सोचने के लिए बाध्य करती हैं । वैसे पति-पत्नी के संबंध अधिक संवेदनशील होते हैं । इस संवेदनशीलता को समझे बिना यांत्रिक शारीरिक संबंध बनाए रखना और मानसिक स्तर पर अलग रहना वास्तव में एक अभिशाप है । स्त्री और पुरुष की अहंवादिता उनके द्वारा जन्म दी गई संतान के भविष्य को किस तरह आतंकित करती है, यह अस्मिता की तलाश से भी बड़ी समस्या है । वस्तुतः अस्मिता, संबंध और नई पीढ़ी का भविष्य, ये तीनों मिलकर समसामयिक जीवनबोध को अधिक कुण्ठित कर देते हैं ।

उधर अस्मिता की तलाश में निकल पड़नेवाली नारी की चेतना के स्वरूप से जुड़ी हुई समस्याओं का सशक्त रेखांकन "रुकोगी नहीं राधिका" में हुआ है । उषा प्रियंवदा का यह उपन्यास एक ऐसी नायिका को प्रस्तुत करता है, जो सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना चाहती है । राधिका अपने पापा से तब अलग हो जाती है, जब उसके पापा दूसरी शादी कर लेते हैं और नई गृहस्थी बसाती है । वैसे पापा ने राधिका को बहुत आज़ादी दे रखी थी, पापा की शादी राधिका को इस तरह का धक्का लगाती है कि वह मानसिक रूप में कुछ कर दिखाने की ठानती है । इस अवसर पर जो सहायता उसे डैनियल से मिलती है, वह उसे विदेश पहुँचाती है । डैनियल

को अपना पार्टनर समझकर वह ज़िन्दगी की शुरूआत करना चाहती है । परंतु वह डैन में अपने पापा की छाया देखना चाहती है जिसको स्वीकारने के लिए डैन तैयार नहीं होता । राधिका को स्वतंत्र करते हुए उसका वक्तव्य यहाँ ध्यान देने योग्य है "तुम्हें नई तरह से एडजस्ट करने में समय लगेगा, मैं जानता हूँ । मुझसे छूटने पर दुख भी । तुम में युवावस्था की लचक है और तुम शीघ्र ही इस दुःख पर विजय पा लोगी । मैं तुम्हें रिजेक्ट नहीं कर रहा हूँ, मुक्त कर रहा हूँ । तुम्हें अपने साथ चलने के लिए इस कारण नहीं कहता, क्योंकि तुमने कभी, एक क्षण के लिए भी प्यार नहीं किया । राधिका, तुम मुझ में अपना पिता ढूँढ रही थी, वही पिता जिसे त्रास देने के लिए तुम मेरे साथ चली आई थी । पर मैं ने तुम्हारे पिता की जगह स्थापित नहीं होना चाहा, मैं तो स्वतंत्र व्यक्तित्व हूँ ।"[1]

डैन से मुक्त होने के बाद राधिका अपनी तलाश ज़ारी रखती है । मन पसन्द दोस्त की खोज में वह अक्षय और मनीश से संबंध जोडती है । नैतिक पाबन्दियों से मुक्त होकर युवावों के सहवास में उसे विशेष प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं जो उसकी वैयक्तिकता के जीवनबोध के विशिष्ट अंश बन जाते हैं । परंतु यहाँ पर भी चुनाव करने की समस्या उसके सामने थोडी देर के लिए रूक जाने का आदेश देती है । दोनों की तुलना वह करती है । और पुरुष के स्वभाव की और उसकी प्रतिक्रिया की सीमाओं को परखती है । राधिका का कथन उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है "हो सकता है कि मैं अक्षय से विवाह कर लूँ । मेरे जीवन में प्ले ब्वॉय के लिए स्थान नहीं है । मैं संगी चाहती हूँ जिसमें स्थिरता हो, औदार्य हो, जो मुझे

---

1. रूकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 29

मेरे सारे अवगुणों सहित स्वीकार कर ले । मेरे अतीत को झेल ले ।"[1]

राधिका की तलाश उसे अजीब से पसोपेश में डाल देती है । जहाँ वह यह समझती है कि अब लौटकर जाना नामुमकिन है । क्योंकि, जिन रास्तों से होकर वह आई है, उन रास्तों के सारे अनुभव फिर लौटाए नहीं जा सकते । "अक्सर टामस वुल्फ की उस नोवल का शीर्षक याद आता रहता है । "तुम घर वापस नहीं जा सकते" । कुछ अजीब ही किस्म की हो गई हूँ, न वहाँ सुखी थी न यहाँ ।"[2]

अंत में राधिका को कहीं-न-कहीं रुकना ही पडता है । अपने पापा की पत्नी की मृत्यु के बाद और मनीश को चुनने के बाद राधिका रुकने का बोध अपनाती है ।

4. राष्ट्रीय परिवेश का प्रभाव :-

समीक्षित रचनाओं में राष्ट्रीय परिवेश का प्रभाव किस तरह रूपायित हुआ है और उसी की छाया में व्यक्तिबोध और सामाजिक बोध किस तरह से परिवर्तित हुए हैं, यह विचारणीय विषय है । वैसे आज़ादी के बाद की परिस्थितियाँ समूचे राष्ट्रीय जीवन के पहलुओं को गहराई से

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 69
2. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 70

परिवर्तित करने में सक्षम रही है । गुलामी से मुक्त जनता के मन की आकांक्षाएँ पंचवर्षीय योजनाओं के विकासशक्ति को लेकर ऊर्द्धगामिनी बनी थी । विभाजन की विभीषिका को सहने के बाद राष्ट्रीय जीवन में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और राजनैतिक स्तर पर काफी प्रगति दिखाई पडने लगी थी । एक ओर राष्ट्र के और राष्ट्रीय जीवन के उज्ज्वल पक्ष इन स्थितियों से जुडे हुए थे तो दूसरी ओर समानांतर रूप में भ्रष्टता, सांप्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद, राजनैतिक घाँधली, स्वार्थ की प्रतिष्ठा आदि का भी विकास हो रहा था । देश के वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यबोध और उनसे जुडी हुई रचना धर्मिता को इन पक्षों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभावित किया था ।

जहाँ तक हिन्दी उपन्यासों का सवाल है, यह कहना पडता है कि राष्ट्रीय परिवेश का ज़ोरदार प्रभाव इनके रचनात्मक पहलुओं में प्रकट होने लगता है । छठे और सातवें दशक के इन उपन्यासों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पच्चीस वर्षों के घटनाक्रम में और सामाजिक चिंतन में आया हुआ बदलाव प्रमुख रूप से अंकित होता है । शहरीकरण की प्रक्रिया, अजनबीपन का एहसास, संबंधों की यांत्रिकता, खण्डित परिवारों की दुविधा, पति-पत्नी के अलगाव की समस्या अस्मिता की तलाश से जुडी हुई विडंबनाएँ, नारीत्व के अनदेखे चारित्रिक आयाम आदि इस तरह से प्रतिष्ठित हुए है कि बदलाव की कहानी बहुत कम शब्दों से ही स्पष्ट होने लगती हैं । वैसे हिन्दी उपन्यासों में दृष्टिगत होनेवाली ये विशिष्ट स्थितियाँ, विशिष्ट न बनकर समाज की प्रतिछाया की रूपरेखा मात्र बनती है । जब इन स्थितियों को औपन्यासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है, तब भले ही उनमें थोडी सी अविश्वसनीयता

झलकती हो, परंतु समाज की यथावत् स्थितियों से इनको अलग नहीं किया जा सकता ।

वस्तुतः राष्ट्रीय परिबोध के आयाम समूचे जीवन के छोरों को इस तरह से अपने अंदर समाविष्ट कर गए हैं कि सच्चाई और कल्पना की स्थितियों के बीच अंतर ढूँढना भी मुश्किल हो जाता है । परंतु यह कहना पड़ता है कि इन उपन्यासों में और उनसे जुड़ी हुई पात्र संकल्पनाओं में सकारात्मक पक्ष की अपेक्षा नकारात्मक पक्ष अधिक उभरे हैं जो जन जीवन की मूलभूत अवधारणाओं को बदलने में सक्षम बने हुए हैं ।

इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय परिवेश के प्रभाव के ही कारण दिशा-परिवर्तन एक ओर दिखाई पड़ता है तो दशा का भी परिवर्तन उससे जुड़कर उभरता है । एक बात विशेष रूप से कहने योग्य यह है कि अधिकतर उपन्यासकारों ने मध्यवर्गीय जनजीवन को ही अपना विषय बनाया है और गरीब और मज़दूर वर्ग के प्रति उदासीनता बरती है । इसलिए उनकी समस्याओं का और सही जीवन की दशाओं का, उनके संघर्ष का, तड़पती हुई ज़िन्दगी की अकथनीय व्यथा का चित्र कम ही उभर पाया है । निम्नवर्ग के प्रति दिखाई गई यह उदासी असल में लेखकीय दृष्टि में आई हुई एकांगिता से जुड़ती हुई उभरती है । वैसे रचनाकार अधिकतर मध्यवर्ग के ही रहे हैं और उसी ज़िन्दगी का ही उन्हें एहसास हुआ है उनके इर्द-गिर्द बनी हुई है । कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि स्थितियों के सही अर्थबोध को

समझने में ये लेखक विफल भी हुए हैं । इस विडंबनात्मक दृष्टिकोण का कारण वैयक्तिक स्तर पर भोगे हुए अनुभव की विविधता हो सकती है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आलोच्य उपन्यासों की अन्दरूनी स्थितियाँ, कथ्यात्मक रंगीनियाँ, पात्र संकल्पना की अवधारणाएँ और दृष्टि संबंधी मान्यताएँ सब राष्ट्रीय परिवेश जन्य प्रभावों के परिणाम से जुडी हुई हैं ।

उदाहरण के रूप में राष्ट्रीय परिवेश के प्रभाव के विविध पक्ष "राग दरबारी", "उखडे हुए लोग", "महाभोज", "यह पथ बन्धु था", "अलग अलग वैतरणी", "अंधेरे बन्द कमरे", "आप का बंटी", "कड़ियाँ", "रुकोगी नहीं राधिका", "डाक बँगला", "सूरज मुखी", "अंधेरे के आतंक", "वे दिन" जैसे उपन्यासों में देखे जा सकते हैं । राजनीतिक आयामों से प्रथम चार उपन्यास जुडते हैं तो राष्ट्रीय जीवन बोध के पारिवारिक और वैयक्तिक पक्षों में आए हुए परिवर्तनों से शेष उपन्यास जुडते हैं । इसमें भी कुछ ऐसी बारीकियाँ हैं जो अर्थ, नारी की स्वतंत्रता, अस्मिता की तलाश जैसे समसामयिक प्रश्नों पर आधारित होती है ।

समूचे भारत के राष्ट्रीय जीवन में दृष्टिगत होनेवाली ज़िन्दगी के बहुरंगी स्थितियाँ जब वैयक्तिकता से संचालित होती है, तब "आप का बंटी", "रुकोगी नहीं राधिका", "सूरज मुखी", "अंधेरे बन्द कमरे", "वे दिन", "डाक बँगला" जैसी रचनाएँ जन्म लेती है । विकासोन्मुख स्थितियों में जन्म लेनेवाले नगरबोध के अजनबीपन के शिकार पात्र राष्ट्रीय जीवन के

पहलू बन गए हैं । महानगरीय सभ्यता ने एक ओर अजय-शकुन जैसे पति-पत्नियों की सृष्टि की है तो दूसरी ओर "स्कोगी नहीं राधिका" की राधिका को भी जन्म दिया है, जो उच्छृंखलता की अतिसीमा पर पहुँचती हुई नैतिकता का शवदाह करती है । राष्ट्रीय जीवन में आये हुये परिवर्तनों ने युवा पीढ़ी की लडकियों को राधिका जैसे बना दिया है जो किसी भी सीमा को मानने के लिए तैयार नहीं । उसके पापा, आधुनिक पिता के प्रतीक है, जिनका अपनी संतान पर कोई नियंत्रण नहीं होता । शिक्षित बनकर मिसफिट हो जाना नई पीढी की महिला की विडंबना बन गई है, जो एक राष्ट्रीय ट्रेजेडी है । जिसका एक और उदाहरण है "डाक बँगला" की इरा । इरा की ज़िन्दगी मज़बूरियों से बनती-बिगडती है और इन मज़बूरियों के पीछे उसका प्रथम फैसला ही काम करता नज़र आता है । प्यार की चंचलता की शिकार बननेवाली आधुनिक शिक्षित नारी का एक पक्ष इरा प्रस्तुत करती है । नारी को शिक्षा देकर चारदीवारी के बन्धनों से मुक्त करने का परिणाम कभी-कभी दूरगामी भविष्य का विधान करता है । इरा के जीवन में आई हुई स्थितियाँ किसी भी पथभ्रष्ट नारी की ज़िन्दगी की तस्वीर के अंश बन सकती हैं । यह भी राष्ट्रीय जीवन पर छाए हुए सेक्स संबंधी शोषण का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं ।

यद्यपि "वे दिन" उपन्यास की स्थितियाँ हमारे राष्ट्रीय जीवन में पूर्णतया नहीं दिखाई पड़ता है फिर भी उसकी अन्दरूनी संवेदना से उभरनेवाली दृष्टि, वैयक्तिक संबंधों से जुडी नैतिकता और अनैतिकता के पक्षों को नकार देती है । उसके साथ-साथ क्षणिकता के एहसास को संपूर्णता के ऊपर प्रतिष्ठित करके खण्डित सत्य को स्वीकारने की दृष्टि को जन्म देती है ।

रायना और गैंड दो प्रतीक हैं, जो स्त्री और पुरुष के सह-अस्तित्व और उनके बीच में मूलभूत रूप में विद्यमान आकर्षण की अनिवार्यता के बोधक हैं । ये आकर्षण शाश्वत सत्य न होकर समय की सीमा में आबद्ध समयगत सत्य है, जिनकी समाप्ति कभी-कभी समय के खण्डों के बीत जाने से हो जाती है ।

"सूरजमुखी अँधेरे के" शीर्षक उपन्यास की स्त्री आम महिला की प्रतीक तो नहीं बनती फिर भी उस अल्पसंख्यक महिला वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो पुरुष के बलात्कार का शिकार बनकर अपना मानसिक संतुलन खो बैठती है और जीवन भर उससे जनित त्रास का अनुभव करती रहती है । राष्ट्रीय जीवन में स्त्रियों पर किए जानेवाले अत्याचार का एक ज्वलंत पक्ष इस उपन्यास में मानसिक गुत्थियों के और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर प्रस्फुटित होता है । स्त्री, उजाले की सूरजमुखी नहीं बनती, अँधेरे की सूरजमुखी बन जाती है । ऐसी यातनाभोगी महिलाओं को समाज घृणा और हिकारत की दृष्टि से देखता है और इस स्थिति को जन्म देनेवाले पुरुष को यों ही छोड देता है ।

वैसे राष्ट्रीय जीवन पर राजनीति का प्रभाव और उससे जनित नकारात्मक परिणाम उपन्यासों को नया आयाम प्रदान करते हैं । "उखड़े हुए लोग", "यह पथ बन्धु था", "राग दरबारी", और "महाभोज" जैसे रचनाओं में राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक क्षेत्र में आई हुई भ्रष्टता, दलबाज़ी, धाँधली, शोषण और अमानवीय कार्यकलापों के सजीव चित्रण उभरते हैं । ये रचनाएँ समूचे राष्ट्र पर छाई हुई सामाजिक मूल्यच्युति के

आधार को ढूँढने में सहायक बनती है । स्वदेश महल के देशबन्धु से लेकर "महाभोज" के दा साहब तक के राजनीतिज्ञ, एक ही चाल के अनेक पहलुओं को उभार कर यह सिद्ध करते हैं कि राजनीति में एक ही सत्य है और वह सत्य है सत्ता की रक्षा । कुर्सियों को बनाए रखने के लिए कोई भी रास्ता अपनाया जा सकता है । इन रास्तों का आदर्शों से कोई संबंध नहीं । तभी आदर्शवादी "यह पथ बन्धु था" का नायक श्रीधर बाबू सभी प्रकार से लुट जाता है । जबकि "उखडे हुए लोग" का देशबन्धु सूरज, शरद, मायादेवि आदि का शोषण करता हुआ पद्मा को मृत्यु की शय्या पर सुलाकर भी किसी भी प्रकार की आत्मग्लानि का अनुभव नहीं करता । आत्मग्लानि का बोध न तो "महाभोज" के दा साहब में हैं न ही विपक्षी नेता सुकुल बाबू में । वे लोग कुर्सी की बाज़ी में सारी मानवीयता का हवन कर बैठे हैं । राष्ट्रीय जीवन की ये सारी स्थितियाँ औपन्यासिक रचनाधर्मिता के पक्ष बनकर जीवंत हो जाती हैं ।

आज़ादी की प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय जीवन में आए हुए परिवर्तन, विकास प्रक्रियाएँ आदि ने परंपरागत पारिवारिक मान्यताओं को ध्वस्त किया है । जन्म जन्मांतर के संबंधों से लोगों का विश्वास जब उठने लगता है, तब शादी के रिश्ते केवल कच्चे धागे के रिश्ते मात्र बन जाते हैं और उनके टूट जाने में कोई खास समय नहीं लगता । "कड़ियाँ" उपन्यास का नायक "महेन्द्र" अपनी पत्नी को इतनी आसानी के साथ अलग कर देता है जैसे कोई अपने लिबाज़ को अलग कर देता है । प्रमिला के अस्तित्व की मूल्यहीनता पत्नी की मूल्यहीनता का सवाल प्रस्तुत करती है, जो राष्ट्रीय स्तर पर एक सवाल बनकर खडा होता है । पति और पत्नी के बीच आनेवाली तीसरी औरत की समस्या भी नगरबोध की नई देन है जिसको हर नगर में

पाया जा सकता है । परंतु इसी परिस्थिति में उत्थान के कुछ दृश्य भी दिखाई पडते हैं । नारी का स्वावलंबिनी बनना इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है । "कड़ियाँ" उपन्यास की समस्या इस तरह से नारी जागरण की स्थिति पर आकर केन्द्रित हो जाती है ।

उधर शहरीकरण के साथ-साथ जन्मी हुई नारी के स्वावलंबन की समस्या का अनिवार्य परिणाम है अहंवादिता । इसी अहं से जब नारी पति पर वार करती है तब संबंध विघटन की कहानी शुरू होती है । इसमें पति का अहं भी समान रूप से जिम्मेदार होता है । नीलिमा और हरबंस के बीच का यह तनाव और एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश, राष्ट्रीय जीवन की एक महत्वपूर्ण समस्या है । परिवार, जब पति-पत्नी तक सीमित होता है तो सारी जिम्मेदारियाँ पति-पत्नी को ही सँभालनी पडती है । यहाँ उनके बीच समझौता कराने के लिए कोई तीसरा व्यक्ति नहीं होता । अतः तलाक, अलगाव, आपसी संघर्ष ये सब राष्ट्रीय जीवन के पारिवारिक पक्ष से जुडे हुए मुद्दे बन गए हैं ।

राष्ट्रीय जीवन में आए हुए बदलाव ने एक ओर व्यक्ति को आतंकित किया है तो दूसरी ओर सामाजिक धरातल पर उसको असंतुलित भी बनाया है । सामाजिक जीवन के पक्ष पर आया हुआ असंतुलन व्यक्ति को कभी-कभी पागलपन की छोर तक ले जाता है जहाँ वह यह नहीं समझ पाता है कि वह क्या कर रहा है । "अलग अलग वैतरणी" का बूझारथ सिंह इसका उदाहरण प्रस्तुत करता है । ज़मीन्दारी के नष्ट हो जाने के बाद बदली हुई

हालात में बुझारथ के कार्यकलाप उसके मानसिक असंतुलन के परिणाम है जो एक आम समस्या है । इसी स्थिति के इर्द-गिर्द रूपायित होनेवाली अन्य घटनाएँ "अलग अलग वैतरणी" की अन्य समस्याओं को उत्तर भारत के उच्चमध्यवर्ग की जीवन गाथा से जोडती है ।

"आतंक" शीर्षक उपन्यास में परिवर्तन के परिणामस्वरूप आए हुए आतंक के बोध का व्यक्ति पर जो प्रभाव पडा है उसी का सबल पक्ष उभरता है । अपराधों के प्रति दिखाई जानेवाली निष्क्रियता, सामाजिक प्रतिबद्धता के अभाव के कारण जन्म लेती है । वैयक्तिक लाभ से प्रभावित होनेवाला व्यक्ति, दूसरी ओर अपराधियों की दण्डनीति के भय से भी आतंकित रहता है और इस कारण सत्य को छिपा देने के लिए विवश हो जाता है । "आतंक" का बलराम इसी का श्रेष्ठ उदाहरण है । परिणामस्वरूप आदर्शनिष्ठ व्यक्ति जैसे डा. कपिला भी मौन साधना ही उचित समझते हैं । इसका नतीजा यह निकलता है कि मक्खनलाल जैसा कातिल कानून की निगाह से बच निकलता है । वस्तुत: "आतंक" उपन्यास आतंकित जनजीवन के राष्ट्रीय पहलु पर एक सतर्क प्रतिक्रिया है ।

इस प्रकार राष्ट्रीय परिवेश का बहुत ही गहरा प्रभाव समूची रचनाओं को भारतीय जनजीवन के सार्थक प्रसंगों से जोड देता है । इस बहु आयामी रचना प्रक्रिया में देश के जीवन की रंगीन एवं रंगहीन पहलुओं का परिच्छेद प्रत्यक्ष होने लगता है । इसी के आधार पर औपन्यासिक प्रतिबद्धता के श्रेष्ठ परिदृश्य अत्यंत रूपायित होने लगते हैं ।

5. मूल्यबोध का रूपायन :-

चर्चित उपन्यासों में आई हुई स्थितियों के विश्लेषण, राष्ट्रीय परिवेश के प्रभाव और सामाजिक जीवनबोध का दिशान्वेषण आदि के सम्यक् संबंध ढूँढते समय पता चलता है कि मूल्यबोध का रूपायन एक ऐसी स्थिति है जहाँ समसामयिक आवश्यकताएँ सबसे बडी भूमिका अदा करती है । वैसे मूल्यरूपायन कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है जिसको संविधान के दिशानिर्देश या विधान सभा के नियम निर्माण प्रयोग में ला सकते हैं । व्यावहारिक जीवन की विशेष स्थितियों में विभिन्न वर्गगत स्वार्थों के घात-प्रतिघातों में, अर्थ और सत्ता की सुरक्षा के लिए लडे जानेवाले अन्दरूनी संघर्षों में, धन और प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए छेडी जानेवाली अनदेखी साजिशों में वे सारे तत्व छिपे पडे हैं जो मूल्यरूपायन की स्थितियों में सार्थक भूमिका अदा करते रहे हैं । इनको सीधी दृष्टि से परखना और उनकी गहराई तक पहुँचना व्यक्ति और समाज के साधारण खोज की सीमा के बाहर की बातें है। क्योंकि मूल्यों में आनेवाला बदलाव धीरे-धीरे होता है और एक सीमा तक परोक्ष रूप से होता है । परिवर्तन की रूपरेखा को तभी देखा जा सकता है जब धीरे धीरे आनेवाला बदलाव अपनी परिक्रमा की पूर्ति कर चुका होता है । वस्तुतः मूल्यबोध के रूपायन की अन्दरूनी सूक्ष्मताओं को रूपायन की वेला में ढूँढ निकालना असंभव कार्य है । सैद्धांतिक रूप में हम यह कह सकते हैं कि मूल्यरूपायन समय सापेक्षिकता से संचालित होता है और सामाजिक बोध पर हावी होता है और व्यक्ति तक पहुँच जाता है ।

अनजाने में होता हुआ दिखाई पडनेवाला परिवर्तन जैसे सामाजिक मान्यताओं को और परंपरागत दृष्टि को जब अप्रासंगिक ठहराता है

तब लोग समझने लगते हैं कि मूल्यबोध में परिवर्तन ज़रूरी है । व्यावहारिकता के पक्ष पर स्थिर होकर आचरण की मान्यताएँ नई सीमाओं को ढूँढती है तब सामान्य व्यक्ति को यह महसूस होने लगता है कि पुराने नियमों पर चलकर और आदर्शों को अपनाकर किसी भी प्रकार की कामयाबी हासिल नहीं की जा सकती । इस विशेष पृष्ठभूमि में आम आदमी यह समझने लगता है कि मूल्य "च्युत" हो गए हैं और परंपरा को माननेवाले यह समझने लगते है कि धर्म की च्युति हो गई है और असत् की प्रतिष्ठा हो रही है ।

धर्म की मान्यताएँ सत् और असत् की दृष्टि, मूल्यच्युति का विलाप ये सब वैसे एक स्थिर बिन्दु पर खडे होकर देखने के कारण व्यक्ति में जन्म लेनेवाली धारणाएँ मात्र है । क्योंकि जो नियम, नैतिक संकल्पनाएँ, मूल्यबोध की अवधारणाएँ जन्म ले गई है, उनका आधार सदियों पूर्व स्वीकारी गई सामाजिक आवश्यकता पर आधारित बोधवत्ता रही है । इस पुरानी बोधवत्ता के आधार पर, बदली हुई सामाजिक आवश्यकताओं की रूपरेखा को परखना और पुराने नियमों को लागू करके सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना एक असंभव बात है । इस कारण वैज्ञानिक स्तर पर विचार करने पर भी यह स्वीकारा जा सकता है कि नए नियमों को, नई मान्यताओं को, नई अवधारणाओं को स्वीकारना समाज के अस्तित्व के लिए और उसकी जीवंतता के लिए अनिवार्य है । पुरानी मान्यताओं से भिन्न होने के कारण और प्राचीन अवधारणाओं से टकराने के कारण नई संकल्पनाओं को "च्युत" कहना कहाँ तक तर्कसंगत है, यह भी विचारणीय है । वैसे मूल्यरूपायन की स्थितियों के प्रभाव में जन्म लेनेवाली नई मान्यताएँ परिवर्तन की नई सीमाओं की ओर व्यक्ति और समाज को ले जाती है । पुरानी लकीर से हट जाने के कारण

इसको "भ्रष्ट", "च्युत" आदि कहकर अवमानना की ओर ले जाना तर्कसंगत नहीं लगता । क्योंकि आज वह समाज नहीं रहा, आज वह व्यक्ति नहीं रहे और आज वे परिस्थितियाँ नहीं रही, जिनकी विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए उन पुरानी नैतिक, वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक मान्यताओं को रूपायित किया गया था । अतः नए मूल्यबोध का रूपायन और नई मूल्यवत्ता का उदित होना समय की माँग के अनुसार है । इसको मूल्यच्युति न कहकर मूल्य परिवर्तन के नाम से पुकारना ही उचित होगा ।

मूल्यबोध के रूपायन की स्थितियों का चर्चित उपन्यासों में बहुत ही विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक उपन्यास मूल्यबोध के परिवर्तन के किसी-न-किसी पक्ष पर बल देता हुआ दिखाई पडता है । कथ्यात्मक विशिष्टताएँ परिवर्तन की संभावनाओं को अधिक विश्वसनीय बना देती है । पारिवारिक संबंधों में आये हुए बदलाव, पति-पत्नी के बीच एक तीसरे के आगमन को मंजूरी देता है । "अंधेरे बन्द कमरे", "कड़ियाँ", "उखडे हुए लोग", "सूरज मुखी अंधेरे के" जैसे उपन्यासों में विवाहेतर संबंधों को परोक्ष रूप में मान्यता प्रदान की गई है और प्रत्यक्ष रूप में ऐसे चित्र मिलते हैं जहाँ "कांड़ियाँ" का महेन्द्र सुषमा से, "सूरजमुखी अंधेरे का" दिवाकर रत्ती से, "उखड़े हुए लोग" का देशबन्धु मायादेवी से, संबंध जोडने में कोई आपत्ति नहीं महसूस करते । "अंधेरे बन्द कमरे"में नीलिमा ऊबानू से मानसिक रूप में जुडी हुई है । ये स्थितियाँ समसामयिक जीवनबोध के प्रभाव के कारण नैतिक मूल्यों में आए हुए परिवर्तन को दिखाती है ।

वैयक्तिक नैतिकता की समाप्ति की घोषणा करनेवाले बहुत सारे पात्र आलोच्य उपन्यासों में दिखाई पडते हैं । "रुकोगी नहीं राधिका" की राधिका नैतिक पाबन्दियों को तोडकर अनेक पुरुषों से शारीरिक संबंध जोडने में हिचक का अनुभव नहीं करती । "सूरजमुखी अँधेरे के" की रती को भी उचित पुरुष से जुडने में कोई आपत्ति नहीं है । लेकिन उचित व्यक्ति की प्राप्ति धीरे से होती है । "कड़ियाँ" की सुषमा आर्थिक पाबन्दियों के कारण महेन्द्र से कई बार शारीरिक संबंध जोडती है । "उखडे हुए लोग" की मायादेवी तो यहाँ तक गिर जाती है कि पति की हत्या में शरीक होकर देशबन्धु से अपना जिस्मानी संबंध बनाए रखती है । वैयक्तिक नैतिकता का नामोनिशान इन पात्रों की चारित्रिकता में कहीं भी दिखाई नहीं पडता । उसी तरह से पाप और पुण्य की संकल्पना भी इन्हें अपराधों से या शारीरिक संबंधों से रोकती नहीं । वैसे "वेदिन" की नायिका "रायना" गैड से रिश्ते जोडने में किसी असुविधा का अनुभव नहीं करती । शारीरिक संबंध को रायना एक यांत्रिक संबंध मात्र मानती हैं उसके आगे कुछ नहीं । उधर "डाक बंगला" की नायिका इसकी वैयक्तिक नैतिकता से संबंध परिस्थिति वश टूट जाता है । विवशता से प्रताडित होकर वह कई पुरुषों से जुडती है और यहाँ तक आगे बढती है कि अवैध रूप से प्राप्त गर्भ को भी गिरा देती है । यहाँ एक ओर उसकी मज़बूरी है तो दूसरी ओर नैतिकता संबंधी मान्यताओं पर उसका अविश्वास । दूसरी दृष्टि से देखने पर नैतिक अविश्वास से ज़्यादा जीते रहने की आवश्यकताएँ उसको इस ओर प्रेरित करती हुई लगती है । उसी प्रकार पुरुष पात्रों में भी अवैधता से जुडे हुए संबंध दिखाई पडते हैं । "अलग अलग वैतरणी" का जगान मिसिर अपने बडे भाई की मृत्यु के बाद भाभी के साथ जुड जाता है । शादी के बिना ज़ारी रखनेवाले इस संबंध में वह किसी प्रकार की अवैधता का अनुभव नहीं करता । प्रस्तुत स्थितियों में आई हुई वैयक्तिक नैतिकता की विडंबनाएँ एक सीमा तक समाज के

द्वारा मान्य बन जाती है और मूल्यबोध में आए हुए परिवर्तन की अंग बन जाती है, जिनको समाज धीरे-धीरे मान्यता प्रदान करने लगता है ।

लेकिन ऐसी भी स्थितियाँ उपन्यासों में मिलती है जहाँ विकृत संबंध चर्चित होते हैं । "आतंक" में मदन का पिता अपनी पुत्रवधू से संबंध जोडता है । और ये सत्य धीरे-धीरे पुत्र के द्वारा स्वीकारा भी जाता है । "उखडे हुए लोग" का देशबन्धु भी पुत्रवधू से अवैध संबंध रखता है । उधर "उखडे हुए लोग" का केशव लैंगिक अराजकता का सबसे भयानक उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ अपनी पुत्री से संबंध जोडता है । उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में विकृत मानसिकता का और मानसिक रुग्णावस्था का भी वह पक्ष उभरता है । जिसको वैधता प्रदान करने के लिए समाज तैयार नहीं हो सकता । इनको हम मूल्य रूपायन की स्थिति के बीच उभरनेवाली अनचाही विकृतियाँ मान सकते हैं ।

राजनीतिक क्षेत्र में मूल्यबोध का स्वरूप आज़ादी के बाद की स्थितियों में परिवर्तित हो जाता है । इस प्रक्रिया का आरंभ वैसे आज़ादी के संग्राम के साथ जुडी हुई स्थितियों में लगता है । आज़ादी का संग्राम एक ऐसा राष्ट्रव्यापी संघर्ष था जिसमें व्यक्ति अपनी सुखसुविधाओं की, खुशियों की परवाह किए बिना आहुति देने के लिए तैयार हुए थे । इस महासंघर्ष के इर्द-गिर्द ऐसी भी स्थितियाँ रूपायित हो रही थी, जिनमें स्वार्थ की प्रतिष्ठा के हेतु अन्दरूनी साजिशों में वे लोग भागीदार थे जिनकी दृष्टि राष्ट्रहित की अपेक्षा कुर्सियों की ओर थी । कुर्सी एवं सत्ता को अपनाने के लिए

उन सारे व्यावहारिक पक्षों को बढावा दिया गया, जिनके आधार पर नेतावर्ग का एक समुदाय अधिकारों को अपने हाथों में ले सकता था ।

वस्तुत: भारतीय राजनीतिक मूल्यों की च्युति अथवा परिवर्तन के बहु आयामी पक्ष स्वतंत्रता संग्राम की अंदरधारा से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जुडे हुए हैं । वैसे यह स्वीकारा गया है कि, कुर्सी पर बैठे रहने के लिए प्रजातंत्र का नाम तो आगे रखना है तो दूसरी ओर प्रजा को या जनता को कई खेमों में बाँटना भी है । दल की राजनीति की अपेक्षा इन खेमों के आधार धर्म, जाति, भाषा और धन हो सकते हैं । आज जिस राजनीति का विकृत रूप या परिवर्तित रूप हमारे सामने उभर कर आया है उसका बीजरूप में प्रस्तुतीकरण स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम चरणों में स्पष्ट होने लगता है । भारत और पाकिस्तान की सृष्टि, धर्मगत, राजनीति का और प्रजातंत्र के खोखलेपन का स्पष्ट उदाहरण है । क्योंकि धर्म के आधार पर राष्ट्र का बनना और धर्म निरपेक्षता के नाम पर बहुसंख्यक वर्ग के धर्म की प्रतिष्ठा करना इसके परिणाम है ।

वस्तुत: राजनीति की मूल्य संबंधी अवधारणा में जल्दी से परिवर्तन प्रतिष्ठित होता हुआ दिखाई पडता है । आज़ादी की प्राप्ति के लगभग तीन दशक बाद राजनीतिक मूल्य विस्थापित होते दिखाई पडते हैं । राजनीति सेवा का लक्ष्य छोडकर उन मंजिलों की ओर बढती दिखाई पडती है जहाँ जनता के प्रतिनिधि बनकर गुण्डे, लफंगे, काला धंधा करनेवाले, सांप्रदायिक दंगे चलानेवाले, भ्रष्ट ठेकेदार और अमानवीय कृत्य करनेवाले लोग प्रतिष्ठा पाने लगते हैं । सैद्धांतिक रूप में नेता वही होता है जो अधिक - से- अधिक

लोगों की भलाई और उनके हितों की रक्षा करता है । व्यावहारिक रूप में आज की परिस्थितियों में नेता वही बनता है जो अधिक से अधिक लोगों को अपने बाहुबल से या धन के बल से खामोश कर सकता है और चुप्पी साधने के लिए मज़बूर कर सकता है । मंत्री वही बनता है जो इस खामोशी का फायदा उठाकर करोडों को हडपने में सार्थक निकलता है । दल वही होता है जो ऐसे लोगों को इकट्ठा करके, भीड को जमा करके व्यावहारिक सफलता को प्रतिष्ठित करता है ।

उपर्युक्त स्थितियों का विवेचन "उखड़े हुए लोग", "राग दरबारी" "महाभोज" जैसे उपन्यासों में दिखाई पडता है । अगर चर्चित पक्षों में से किसी-न-किसी पक्ष पर गहराई से, व्यंग्यात्मकता से और सतर्कता से प्रकाश डालने का प्रयास उपन्यासों में किया गया है । "यह पथ बन्धु था" में मूल्यबोध के परिवर्तन के रूपायन की स्थिति को आज़ादी की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया गया है । "उखडे हुए लोग" में राजनेता का नैतिक एवं सामाजिक दायित्व से भ्रष्ट होकर अनीति, दमन और शोषण का समर्थन परिलक्षित होता है तो "महाभोज" में हरिजन वर्ग पर किए जानेवाले अत्याचारों का और उसी के आधार पर वोट माँगने के कार्यक्रम का और उससे जुडे हुए षड्यंत्र का पर्दाफाश होता है । उधर "राग दरबारी" में गाँव और कस्बों में व्याप्त राजनीतिक भ्रष्टता और शैक्षिक संस्थाओं की दुर्गति का स्वरूप इस दृष्टि से अंकित किया गया है कि लोग समझ जाए कि राजनीति अपने समूचे आदर्शात्मक मूल्यबोध को खो बैठी है । "राग दरबारी" का व्यंग्य बहुत ही चुभनेवाला है और देश की दुर्गति को बनाए रखने में राजनेताओं की भूमिका को भली तरह से आंकनेवाला है ।

चर्चित उपन्यासों में आई राजनीति संबंधी दृष्टि भारतीय जन जीवन में छाई हुई भ्रष्टता का एक पक्ष उभारकर रखती है तो दूसरी ओर अशिक्षित भारतीय बहुसंख्यक जनता के लिए प्रजातंत्र की अर्थ हीनता का भी बोध कराती है । प्रजातंत्र वहीं पर सफल होता है जहाँ व्यक्ति जिम्मेदारी को निभाने में सार्थक निकलते है । नागरिक के रूप में जिस तरह की जिम्मेदारी निभाई जानी चाहिए उसका जब निराकरण होता है तब देश के पूर्वकल्पित राजनीतिक मूल्यबोध का आधार बदलने लगता है । असल में पिछले तीन दशाब्दों में जो राजनीतिक मूल्यबोध का रूपायन हुआ है, उसे इस पृष्ठभूमि में आंकना अत्यंत ज़रूरी पडता है । इस बिन्दु पर आकर अध्ययन समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक भी बन जाता है । वस्तुत: उपर्युक्त विवेचन से यह साबित होता है कि राजनीतिक मूल्यबोध के रूपायन के अध्ययन में समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का भी समावेश होना आवश्यक है । कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आलोच्य उपन्यासों में आई हुई राजनीतिक स्थितियाँ मूल्यबोध के परिवर्तन के महत्वपूर्ण प्रमाणों को प्रस्तुत करती है ।

व्यक्ति - मूल्य और सामाजिक परिप्रेक्ष्य के पारस्परिक संबंधों पर औपन्यासिक रचना-प्रक्रिया के आधार पर विचार करने पर यह स्पष्ट होने लगता है कि, स्वातंत्र्योत्तरकालीन मूल्यों के आन्तरिक पक्ष सामाजिक परिप्रेक्ष्य के बदलते स्वरूप से जुडकर व्यक्तिबोध को प्रभावित कर गए है । परिवेशजन्य स्थितियों में संघर्ष करने के लिए बाध्य व्यक्ति, अपनी विशिष्ट मानसिकता के कारण अस्तित्व की समस्या को ही महत्व देता है । ऐसी स्थितियों में कभी-कभी मूल्यनिषेध की संभावनाएँ भी उभरती है, जिनको

वह बिलकुल तटस्थ भाव से स्वीकार लेता है । इस बिन्दु पर आकर नए मूल्यों का रूपायन होने लगता है । समानांतर रूप में व्यक्ति और समाज का संघर्ष मूल्यबोध की परंपरागत मान्यताओं के प्रति और आधुनिक परिवेश में उनकी अप्रासंगिकता के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करता है । वैसे व्यवस्था की रूढ़ियाँ और व्यक्ति की पाबन्दियाँ संघर्ष के अनदेखे पक्षों को पात्र-मानसिकता के बीच से होकर उभारती है । वास्तव में आलोच्य उपन्यासों की सबसे प्रमुख अन्तर्धाराओं में इस विशिष्ट मानसिकता का महत्वपूर्ण स्थान है । राष्ट्रीय परिवेश का प्रभाव समूची जीवनदृष्टि का अपनी सीमा के अंदर समावेश कर गया है । समष्टिगत जीवन के आन्तरिक पक्षों को देश भर में जन्म लेनेवाली स्थितियों की पृष्ठभूमि में आंकने का प्रयास, उपन्यासों की जीवन्तता का प्रमाण है ।

उपर्युक्त परिस्थितियों में मूल्यबोध के रूपायन की सारी संभावनाएँ स्वाभाविक स्तर पर जन्म लेती हुई दिखाई पड़ती है । लगता है कि जिन औपन्यासिक कथ्यात्मक स्थितियों का प्रस्तुतीकरण हुआ है, वे स्थितियाँ बाहर से लादी नहीं, अपितु अंदर से जन्मी हुई है । इस कारण उनकी संवेदन क्षमता और प्रभावबोध की सृष्टि की क्षमता असाधारण है । यह स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है कि मूल्यबोध का नए ढंग से चयन करने के लिए व्यक्ति, मज़बूर हो गया है । वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जनजीवन को नए मोड़ों से गुज़ारने में और उसका दिशानिर्देश करने में समसामयिक परिवेश का जो योगदान है उसकी सशक्त अभिव्यक्ति आलोच्य उपन्यासों में उच्च स्तर पर है ।

पाँचवाँ अध्याय

संवेदना और संरचना

संवेदना और संरचना

हिन्दी उपन्यास साहित्य ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के सालों में भारतीय जनता के जीवन स्थितियाँ, परिवर्तित मूल्यबोध आदि को सफल एवं कलात्मक अभिव्यक्ति देने का कार्य किया है । रचना कालातीत ही होती है और कोई व्यक्तिविशेष या समयविशेष का इसमें मुख्य स्थान प्राप्त होना असंभव है । किन्तु समय परोक्ष रूप में रचना में उपस्थित होता है । स्वतंत्रताप्राप्ति एक ऐसी महान घटना थी जिसके परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक स्थितियाँ पूर्णतः बदलती रही । इस बदलाव का स्वर भारतीय समाज के मध्यवर्ग में स्पष्ट सुनाई पडता है तथा निम्नमध्यवर्ग में भी । आज़ादी के बाद के दो तीन दशकों में लिखे गए उपन्यासों में उस समय की सामाजिक स्थितियाँ, गाँव एवं शहर की ज़िन्दगी आदि की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है । इन उपन्यासों के माध्यम से लेखक, समाज के बदलते स्वरूप एवं मान्यताओं को पाठकों के सम्मुख रखने का कार्य ही करते आये हैं ।

किसी भी साहित्यिक कृति की रचना धर्मिता पर विचार करते समय एक ऐसी समग्र दृष्टि को अपनाना पडता है, जिसके अन्दर संवेदना और संरचना का समान रूप से समन्वय होता है । रचना न केवल संवेदना से मात्र जन्म लेती है, न संरचना मात्र से ही । दोनों एक दूसरे से इस तरह से संबद्ध रहते हैं जैसे भाव और रूप । भावहीन रूप का और रूपहीन भाव का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता । इस दृष्टि से रूप और भाव को

यानी संरचना और संवेदना को अलग करके देखना भी अवैज्ञानिक होगा । फिर भी कथ्य और रूप के समन्वय को और उनकी सही प्रस्तुति को आलोचना की दृष्टि से आँकने का प्रयास जारी रखना ही पडता है । इसमें ऐसी स्थितियों का, प्रसंगों का और उनकी प्रस्तुति का सारा विवेचन, कृति की समग्रता को सामने रखते हुए किया जाता रहा है । इसी का अनुसरण करते हुए आलोच्य उपन्यासों की रचनाधर्मिता को और उनकी अन्तश्चेतना को ढूँढ निकालने का प्रयास किया जा रहा है ।

संवेदना के धरातलों को संरचना के बाह्य पक्षों से इस तरह मेल कराना पडता है कि उनके बीच का अन्तर अदृश्य हो जाता है । सफल रचनाओं में यही होता आया है । इस कारण बहुत ही सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण की बारीकियों को तय करना पडता है । वैसे रचना की कथ्यात्मकता औपन्यासिक संरचना के अन्दर समायी रहती है । इस आन्तरिक रचना प्रक्रिया की प्रभावान्विती पाठक की अन्तश्चेतना को अपनी चपेट में ले लेती है और कालजयी रचना की सृष्टि करने में सफल होती है । रचना की सफलता और विफलता कृति की संवेदना और संरचना के बीच के विलयन की सार्थकता के आधार पर बनती है ।

1. लेखकीय प्रतिबद्धता और आयामित रचना प्रक्रिया :-

आज की जटिल जीवन परिस्थितियों में सृजन करनेवाले लेखक को समाज के प्रति, जीवन की वास्तविकता के प्रति तथा अपने व्यक्तित्व

के प्रति भी प्रतिबद्ध होना है, जो बहुत कठिन कार्य है । रचनाकार की मूलभूत ईमानदारी तथा दायित्वचेतना उसको कई बातों की ओर ले चलती है । युग के किन ज्वलंत संदर्भों में आज का सृजन साँस ले रहा है, सृजन के दौरान आज के रचनाकार की, उन संदर्भों के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो सकती है, ईमानदारी से रचना करने में उसे किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पडेगा तथा इन संदर्भों में लेखक का किसके प्रति प्रतिबद्ध होना उचित होगा, आदि मुद्दे इस प्रसंग में अत्यंत महत्वपूर्ण बन जाते हैं । आज की जीवन परिस्थितियों की विविधता से स्वयं जूझते हुए और अपनी जीवन दृष्टि के द्वारा उनका विश्लेषण करते हुए अपने लिए उचित एवं महत्वपूर्ण जंचनेवाले जीवनसत्य के माध्यम से संपूर्ण जीवनसत्य के साक्षात्कार का उपक्रम करना ही लेखकीय प्रतिबद्धता से तात्पर्य है ।

रचनाकार का अपना रचना संसार होता है और एक विशिष्ट व्यक्तित्व भी । किन्तु वह मानव से या समाज से कटा हुआ नहीं है । डा. धनंजय वर्मा "मानवीय यथार्थ और स्थितियों से प्रतिबद्धता, रचना की पहली और अनिवार्य शर्त"[1] मानते हैं । अमृतराय, रचनाकार के लिए प्रतिबद्धता को ज़रूरी मानते हैं । वे लिखते हैं -"एक तो अपनी उस प्रतिबद्धता की डोर से बँधा रहने के कारण उसका कर्म तरह-तरह के थपेडों में पडकर (जिनसे मेरा आशय जीवन के सुख-दुःख से भी है और वैचारिक प्रसंगों से भी) बहकने या भटकने नहीं पाता और कभी कुछ भटकाव आता भी है तो

---

1. रचना के समकालीन सरोकार - डा. धनंजय वर्मा - हस्तक्षेप

फिर जल्दी ही अपना ठीक रास्ता मिल जाता है । दूसरे यही प्रतिबद्धता उसकी रचनावृत्ति की स्फूर्ति भी होती है ।"[1] प्रतिबद्धता की जो सीमा होती है उसका उल्लंघन करना उनके अनुसार साहित्य के लिए घातक है ।

लेखकीय प्रतिबद्धता के बारे में विचार करते समय, मन्नू भण्डारी को, लेखक का किसी विचारधारा से, राजनीति से या धर्म से जुडकर रहना अच्छा नहीं लगता । मन्नू भण्डारी के अनुसार रचनाकार की प्रतिबद्धता सिर्फ मानव जीवन से ही है । "मैं तो एक ही बात जानती हूँ और मानती हूँ कि बँधो, किसी के साथ नहीं, बस ज़िन्दगी के साथ जुडो ।"[2] भीष्म साहनी का मत भी इससे मिलता जुलता है । उनके अनुसार "लेखक की प्रतिबद्धता जीवन से तथा अपनी कला से होती है । इसमें कुछ भी सहायक हो सकता है जो उसकी सूझ को बढाये, उसके संवेदना को परिष्कृत करे ।"[3]

वस्तुत: लेखकीय प्रतिबद्धता एक ऐसी मनोवृत्ति की परिचायिका बन जाती है, जो वैयक्तिक होते हुए भी समाजबद्धता से

---

1. साहित्य और विचारधारा: प्रतिबद्धता का प्रश्न - रमाकान्त शर्मा - आलोचना अक्तूबर - दिसम्बर, 1985 - पृ. 35
2. "हम संक्रांतिकाल से गुज़र रहे हैं" - मन्नू भण्डारी से प्रमोद त्रिवेदी की बातचीत - साक्षात्कार - अक्तूबर 1992, पृ. 10
3. भीष्म साहनी से सुरेन्द्र तिवारी की बातचीत - साक्षात्कार - जून-जुलाई 1986 - पृ. 11

अनुप्राणित रहती है । अहंवादी मनोवृत्ति के आधार पर आयाभित होनेवाली सर्जनात्मकता कभी भी जनमानस की गहराई में अपना प्रभाव नहीं छोड सकती । अतः कालानुबद्ध होते हुए भी, रचना व्यष्टिपरक सत्य को स्वीकारती हुई समष्टिगत सत्य की पृष्ठभूमि में उसकी प्रासंगिकता को आँकने का दायित्वपूर्ण कार्य करती है । ऐसा करते समय कभी व्यक्ति की दृष्टि प्रमुख हो जाती है तो कभी समूह की । प्रतिबद्धता के पक्षों में दिखाई पडनेवाला अंतर इन दोनों दृष्टियों पर आधारित होकर प्रकट होता है ।

2. रचना की अन्तरधारा :-

रचना की अन्तरधारा को पहचानने की कोशिश करते समय स्वातंत्र्योत्तर काल के मध्यवर्गीय जीवन, व्यक्ति और समाज की विशिष्टताएँ तथा सामाजिक मान्यताओं में आनेवाले बदलाव का स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट होने लगता है । बदलाव की यथार्थपरक अभिव्यक्ति, परिवार, राजनीति, व्यक्ति, गाँव, कस्बे आदि से संबंधित बहु आयामी स्थितियों एवं घटनाओं को लेकर आलोच्य उपन्यासों का रूपायन हुआ है ।

गाँव की ज़िन्दगी को प्रस्तुत करनेवाले उपन्यास है - श्रीलाल शुक्ल का "राग दरबारी", शिवप्रसाद सिंह का "अलग अलग वैतरणी" आदि । राजेन्द्र यादव का "उखडे हुए लोग", मोहन राकेश का "अन्धेरे बन्द कमरे", कमलेश्वर का "डाक बँगला", निर्मल वर्मा का "वे दिन,"

उषा प्रियंवदा का "रुकोगी नहीं राधिका", भीष्म साहनी का "कड़ियाँ", मन्नू भण्डारी का "आप का बंटी", "कृष्णा सोबती का "सूरजमुखी अँधेरे के" आदि शहर की ज़िन्दगी को उभारनेवाले उपन्यास हैं । नरेश मेहता का उपन्यास "यह पथ बन्धु था" में गाँव एवं शहर की ज़िन्दगी का चित्र उभरता है तो "महाभोज" में भी शहर एवं गाँव की ज़िन्दगी का अंकन हुआ है । वैसे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की रचनाओं में भारत के मध्यवर्ग एवं निम्नमध्यवर्ग की ज़िन्दगी के वैविध्यात्मक पक्षों के चित्र उभारे गए हैं । व्यक्ति और समाज के आपसी संबंधों में आए हुए बदलाव को परिवेशगत स्थितियों के साथ सक्षम अभिव्यक्ति देना उपन्यासकार का लक्ष्य रहा है ।

लेखकों की दृष्टि शहर और कस्बों की मध्यवर्गीय जीवनसंबंधी विडंबनाओं को ढूँढने में सफल हुई हैं । परिवार की टूटती गिरती स्थितियाँ, वैयक्तिक शिथिलताएँ, राजनैतिक जटिलताएँ, व्यक्ति और समाज के संबंधों के बदलते हुए स्वरूप आदि की यथार्थपरक अभिव्यक्ति आलोच्य उपन्यासों में मिलती है ।

साथ - ही - साथ समसामयिक जीवन की विरोधात्मक स्थितियों का बयान प्रस्तुत करने में भी इस काल का उपन्यास एक सीमा तक सफल हुआ है । व्यक्ति की मनोवृत्ति, संस्कार, विश्वास, धर्म, राजनीति, सेक्स आदि के घेरों से जुड़कर अभिव्यक्ति की तलाश करती हैं ।

इस अन्वेषण की वेगवती यात्रा में व्यक्ति को उन सब चीज़ों को खोना पडता है, जिनको फिर कभी नहीं पाया जा सकता । यही विडंबना रचना की धरती को एक ओर उर्वर बना देती है तो दूसरी ओर संवेदनहीनता की ऊसरता से भी जोड देती है ।

3. संवेदना और कथ्य रूपायन :-

आलोच्य उपन्यासों की संवेदना और कथ्य रूपायन की विशिष्टता पर विचार करते समय संवेदना को कई आयामों में रूपायित होते हुए हम देख पाते हैं । वैसी संवेदना की विविधता कथ्यरूपायन को अलग अलग क्षितिजों से जोडती हैं । यह विविधता व्यक्ति, समाज, राजनीति, अराजकता की स्थितियों आदि से जुडकर अलग अलग संरचनात्मक घेरों में आबद्ध होकर प्रस्तुत होती है । इस दृष्टि से उपन्यासों का कथ्यात्मक रूपायन वैयक्तिकता से, सामाजिकता से, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य से और अराजकतापूर्ण वातावरण से जुडकर अभिव्यंजित होता है । इस अभिव्यक्ति की समग्रता को अपने ढंग से सर्जित करती है । इस प्रकार के विभाजन से औपन्यासिक रचनाधर्मिता का और उसकी संवेदनात्मक विशिष्टता का कई हिस्सों में विभाजन किया जा सकता है ।

§।§ व्यक्तिवादी संवेदना का रूपायन :-

संवेदना के वैयक्तिक आयामों को अभिव्यक्ति देनेवाले उपन्यासों में कमलेश्वर का "डाक बँगला", निर्मल वर्मा का "वे दिन",

उषा प्रियंवदा का "रुकोगी नहीं राधिका", कृष्णा सोबती का "सूरजमुखी अंधेरे के" जैसे उपन्यास ध्यान देने योग्य बन जाते हैं । इन उपन्यासों की संवेदना की गहराई वैयक्तिक सीमारेखाओं से जुडकर कहीं व्यक्तिवैचित्र्य को उभारती हुई भीड़ से अलग हो जाने की विशेष मनोवृत्ति से आयामित होता है । तो कहीं व्यक्ति की अपनी अस्मिता की तलाश की संभावनाओं से जुडती है । ये तलाश एक ओर आत्मविद्रोह जनित होती है जो सामाजिक अंकुश के प्रति विरोध का स्वर उभारती है तो दूसरी ओर अपनी निस्सहाय अवस्था का दर्दभरा स्वर भी प्रस्तुत करती है । कहीं-कहीं यह संवेदना द्वन्द्वात्मक स्तरों से आबद्ध होकर अंतरसंघर्ष की और विडंबनाओं की भावभूमि से जुडती है ।

डाक बँगला

कमलेश्वर के "डाक बँगला" शीर्षक उपन्यास में रूपायित होनेवाली संवेदनात्मक स्थितियाँ व्यक्तिवादी धरातल से जुडते हुए भी परिवेशजन्य द्वन्द्वों से और विडंबनाओं से अधिक प्रभावित है । इस उपन्यास की सर्जनात्मकता इरा की व्यक्तिवादी संवेदना के उस पक्ष को प्रस्तुत करती है जो अप्रत्याशित परिस्थितियों में जीवन के घटनाचक्र को घुमाते है और स्वयं अपनी ज़िन्दगी जीने के लिए व्यक्ति को बाध्य करती है । इरा वह नायिका है, जो अपनी लडाई खुद लडती रहती है और नारी सुलभ संकल्प-विकल्पों से जूझती हुई संबंधों के नए आयामों को रूपायित करती है ।

प्रेमी विमल के साथ भागते समय उसमें प्रेमिका की भावुकता ही प्रमुख रहती है । बाप की परवाह किए बिना भाग निकलना, आर्थिक विपन्नता के शिकार बनकर बतरा के यहाँ नौकरी करने के लिए विवश हो जाना और बतरा से संबंध जोडने की स्थिति तक पहुँच जाना, आदि घटनाएँ इरा की मानसिकता के द्वन्द्वात्मकता से जुडकर ही उभरती हैं । प्रेमी से तिरस्कृत हो जाने के बाद इरा को लेखक ने विशिष्ट मनोभूमि पर जानेवाली और जीने के लिए समझौता करनेवाली नारी की मानसिकता से भरपूर कर दिया है । खोई हुई मंजिलों की तलाश के पीछे न भागकर आनेवाली मंजिलों की प्रतीक्षा में पडनेवाली विवश इरा को डॉ. चन्द्रमोहन की बनने का रस्म अदा करना पडता है और अंत में सोलंकी जैसे सैनिक से गर्भ-धारण करना पडता है । खोए हुए प्रेमी को पाने के लिए गर्भपात भी करती है । लेकिन इसका परिणाम भी कोई अच्छा नहीं होता क्योंकि प्रेमी तब तक मर चुका होता है । इस उपन्यास की समूची संवेदना नारी की विवशता, उसका शोषण, पुरुष द्वारा जीते रहने का संघर्ष, विडंबनात्मक जीवन स्थितियाँ आदि से जुडकर इस तरह परिणत होती है कि, व्यक्तिवादी संवेदना परिवेशजन्य स्थितियों के अधीन होती हुई करवटें बदलती दिखाई पडती है ।

वैसे वैयक्तिक संवेदना का जो स्वरूप "डाक बँगला" में उभरता है वह व्यक्तिवादी न होकर परिवेशजन्य स्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में आयामित होता है । इरा की जीवन की स्थितियाँ ही इस

संवेदना की विविधता को निश्चित करती है । हालातों के प्रवाह में बहती इरा के निर्णय व्यक्तिबोध के विकल्पों पर आधारित होते हैं और ये विकल्प स्थिति-बोध से नियंत्रित भी होते हैं । संवेदना की गहराई में कहीं - कहीं एक मौन चीत्कार और अर्थपूर्ण विवशता दिखाई पडती है ।

विमल के चले जाने के बाद इरा बतरा के घर में जीने लगती है । इसका कारण भी इरा के अनुसार एक विवशता ही है । "दुनिया बहुत कमीनी है । यहाँ औरत और आदमी के रह ही नहीं सकती । चाहे उसके साथ उसका पति हो या भाई या बाप । कोई न हो तो नौकर ही हो । पर आदमी की छाया ज़रूर चाहिए ।"[1]

बतरा के घर में शीला के द्वारा उसके और बतरा के बीच के संबंध को नौकरी नाम देने से इरा टूट जाती है । "नौकरी ! नौकरी, यह शब्द मुझे छेद गया, बतरा की बेगैर मरजी यह सब नहीं हुआ होगा, यह मैं जानती थी । क्या मैं सिर्फ बतरा की नौकर थी ? क्या संबंधों की नींवें इतनी पोली होती है.... क्या यह सब एक कीचड़ है, जिससे हर आदमी उकताकर भागता है ।"[2]

---

1. डाक बँगला - कमलेश्वर - पृ. 46
2. वही - पृ. 75

विमल को पाने के लिए सब कुछ नष्ट कर देने पर भी विमल की मृत्यु हो जाती है । विमल के मरने के बाद अपनी स्थिति का मूल्यांकन करते हुए इरा की बात ध्यान देने योग्य हैं - "अब फिर कुछ - कुछ वैसा ही अँधेरा है, वही घुटन है..... कोई आवाज़ नहीं है..... और कोई भी ऐसा नहीं है जिसे आवाज़ दूँ"[1]

इस प्रकार "डाक बँगला" में जो व्यक्तिवादी संवेदना जन्म लेती है, वह व्यक्ति की विवशता के प्रतिमानों को सामने रखती है । समाज के परोक्ष घटना विधान का भी इस व्यक्तिवादी चेतना के रूपायन में महत्वपूर्ण योगदान होता है ।

वे दिन

व्यक्तिवादी संवेदना का एक और विशिष्ट पक्ष निर्मल वर्मा के "वे दिन" में रूपायित होता है । वैसे अस्तित्ववादी दृष्टि की छाया में जन्म लेनेवाली यह व्यक्तिवादी संवेदना की पार्श्वभूमि प्राग की गलियाँ है और वे खण्डहर है जहाँ गैड ऐतिहासिक यादों को दर्शिका के मन पर उभारकर रखता है । रायना और गैड के बीच संबंधों के द्विविधात्मक पक्ष जन्म लेते हैं । अस्तित्ववादी चेतना से जुडकर रायना की भूमिका तय की जाती है तो गैड की संवेदना भावुकता के ऊँचे स्तरों को छूने

---

1. डाक बँगला - कमलेश्वर - 122

लगती हैं । स्त्री और पुरुष के बीच के संबंधों को गैड केवल प्रेम की दृष्टि से ही देख पाता है । रायना के साथ-बिताए गए क्षण गैड की दृष्टि में प्रेम के अनमोल क्षण है तो रायना की दृष्टि में वे सहज और अर्थहीन संबंध के ही क्षण है । उन्हीं में जीने का एहसास तो होता है लेकिन उस एहसास को भावुकता के साथ जोडकर संवेदना को नई दिशा प्रदान करने के लिए रायना तैयार नहीं । इस कारण रेल स्टेशन से जब गाडी रवाना होती है तब विरह व्याकुलता का अनुभव जब गैड करता है, तब रायना ऐसी कोरी भावुकता से निश्चिंत रहती है । यही उनके संबंधों की द्विविधात्मक और दुविधात्मक पक्ष है । यह स्थिति इस उपन्यास की रचना धर्मिता और संवेदना की वैयक्तिकता पर ही नहीं उसकी निर्वैयक्तिकता पर भी प्रकाश डालती है । फ्रांस, मरिया टॉ.टी आदि के बीच के संबंध इस निर्वैयक्तिकता की पक्षों से जुडते हैं । समूची रचना का स्वर मानव संबंधों को भावुकता से मुक्त होकर देखने की और उनके बीच उभरने वाले आंतरिक संबंधों को स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में आँकने की ओर इशारा करती है । उपन्यास की रचना प्रक्रिया की पृष्ठभुमि में दूसरे महायुद्ध और उसकी विभीषिका एक कालीं छाया की रूप में मँडराती रहती है । जीवन की क्षणभंगुरता और मृत्यु का आक्रोश जीने के क्षणों को अधिक मूल्यवान बना देते हैं । इसी बीच जीते जीते संबंधों की गहराई को समझने का समय भी व्यक्ति के पास नहीं रह जाता । रायना अपने पति जाक के साथ जीते हुए भी पति से इतना खुलामिल नहीं पाती कि उनका जीवन एक हो जाय । अलगाव की विडंबनात्मक स्थितियाँ पति-पत्नी के संबंधों को भी यांत्रिक

बनाकर सिर्फ जीते रहने के क्षणों तक सीमित हो जाती है । ये क्षण किसी के साथ भी जोडे जा सकते है जैसे रायना ने गैड के साथ जोडा था । यह अस्तित्ववादी संवेदना समूची रचना की गहराई में प्रस्तुत होती है । निम्नलिखित उदाहरणों में उसकी झलक मिलती है ।

जाक और रायना की ज़िन्दगी के बारे में रायना कहती है "जब मैं उसके साथ रहती थी..... मुझे कभी-कभी लगता था, जैसे हम दोनों अब भी किसी कान्सनट्रेशन कैम्प में रह रहे हैं..... एक ही घर में । उसके आहर जाक..... वह जीवित नहीं था..... मैं भी नहीं । हम सिर्फ उसमें रहकर जी सकते थे..... लेकिन मैं नहीं रह सकी । एक दिन मैं बाहर आ गई..... यह जानते हुए भी कि बाहर मैं किसी काबिल नहीं रह गई हूँ..... नॉट ईवन फार लव । पीस किल्ड इट...।"[1]

वस्तुत: वे दिन उपन्यास की संवेदना की गहराई में अस्तित्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है । व्यक्ति को व्यक्ति-निरपेक्ष करना, संबंधों के आधार को क्षणों तक सीमित करना, जीने के एहसास को क्षणों की अमानत मानना इस दार्शनिक वृत्ति के परिचायक संदर्भ हैं ।

---

1. वे दिन - निर्मल वर्मा - पृ. 207

रुकोगी नहीं राधिका

"रुकोगी नहीं राधिका" की रचना-प्रक्रिया के पीछे जो संवेदना प्रखर होती है वह राधिका की अपने व्यक्तित्व की, अस्मिता की, आत्मविद्रोह की किसी अनचाहे बदले की और अपनी रति संबंधी आज़ादी की संवेदनात्मक स्थितियों से जुडकर रूपायित होती है । पिता से संघर्ष करने के उद्देश्य से निकल पडनेवाली राधिका अपने चारों तरफ़ की सीमाबद्धता को तोडती हुई आज़ादी की सीमाओं की तलाश करने की संवेदना से जुडती है । इस संवेदना का आधार एक ओर व्यक्ति के विद्रोह से है तो दूसरी ओर दैहिक इच्छाओं की पूर्ति से संबंधित स्थितियों में नई बोधवत्ता को खोजने में हैं ।

इस उपन्यास की मूल भावना उन सभी तत्वों से टकराती है जिनको हम मूल्यस्तर से, रिश्ते-नातों से परंपरागत विश्वासों से और आत्म संयम के बोध से जोडते हैं । प्रामाणिक अनुभवों की तलाश व्यक्ति-संघर्ष को जारी रखने की अंतरप्रेरणा, पिता से प्रतिशोध देने की भावना, राधिका को आगे चलते रहने के लिए शक्ति प्रदान करती है । डैनियल के साथ उसके भाग जाने की स्थिति में संवेदना का प्राथमिक दौरा प्रतिशोधात्मक बनता हुआ अंकुशहीन होता है । पापा की यह प्यारी बेटी पापा को ही नकारती हुई प्रथम प्रेमी डानियल को भी छोडकर मनीश और अक्षय के बाहों में बार-बार मचलती हुई, नैतिकता को चुनौती देती हुई,

भारतीय परंपरा को नकारती हुई रुके बिना आगे बढ जाती है । प्रस्तुत कथ्यात्मक संवेदना को रूपायित करते समय उषा प्रियंवदा ने शायद बहुत सारी कटुवाहट का अनुभव किया होगा क्योंकि इस उपन्यास की संवेदना आदि से अंत तक एक प्रश्नचिह्न की टेढी रेखाओं के इर्द-गिर्द घूमती है । राधिका की मानसिकता को और संवेदनात्मक द्वन्द्व को दिखानेवाले प्रसंग ध्यान देने योग्य है ।

पापा और विधा के विवाह के बाद जब राधिका की शादी के बारे में पापा कहता है, तब उसकी प्रतिक्रिया प्रतिशोध की शब्दों में समेटती हुई निकल पडती है "मैं अभी विवाह करना नहीं चाहती ।" और जब पापा राधिका को भाई विनय के घर से अपने साथ चलने को कहता है तब उसकी प्रतिक्रिया उसकी मानसिक स्थिति को व्यक्त करने में सक्षम निकली है । "जो आप चाहते हैं वही हमेशा क्यों हो ? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नहीं है ? मैं आपकी बेटी हूँ, यह ठीक है, पर अब मैं बडी हो चुकी हूँ और मैं जो चाहूँगी वही करूँगी ।"[1]

उषा प्रियंवदा ने राधिका को एक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है जो नारी मन के अनदेखी इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है । अगर नारी को स्वतंत्र करके अपनी भविष्य का निर्धारण करने की झूठ नैतिकता

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 43

से मुक्त होकर दी जाती है तो उसके मन का एक हिस्सा अवश्य राधिका के समान ही कार्य करने के लिए प्रेरणा देगा । वास्तव में नारी की अस्मिता की तलाश का वैकल्पिक पथ समूचे परिदृश्य में प्रकट होता है ।

सूरजमुखी अँधेरे के

उधर "सूरजमुखी अँधेरे के" उपन्यास की संवेदनात्मक स्थितियाँ सभी दृष्टियों से विशिष्ट सीमारेखाओं से आबद्ध होती दिखाई पड़ती है । कृष्णा सोबती ने प्रस्तुत रचना की पार्श्वभूमि को और आंतरिक अवधारणा को रूपायित करते समय एक ऐसी नायिका की मानसिकता को ध्यान में रखा है जो बचपन की किसी अनचाही घटना से आतंकित होकर जीवन भर मनोवैज्ञानिक समस्या का शिकार बनती हुई अपनी यात्रा निश्चित करती है । समूची रचना प्रक्रिया के पीछे स्त्री की कुण्ठित मानसिकता और समूची कुण्ठाओं से युक्त जीवन की बोधात्मकता प्रवर्तमान होती है । रत्ती उसी तलाश में है जिसका अंतिम चरण उपन्यास के अंत तक आते हुए भी बहुत दूर ही दिखाई पड़ता है । समूची उद्भावनाओं को समग्रता से प्रस्तुति के धरातल तक लाते समय लेखिका ऐसी अछूती स्थितियों का परिचय कराती है जिनसे आम पाठक अपरिचित ही रहा है । शायद अनोखी स्थितियों में रूपायित होनेवाली यह संवेदना का बहुरंगीपन ही इस उपन्यास का अछूता अंश है ।

रत्ती के साथ बचपन में किया जानेवाला बलात्कार मानसिक रूप से उसको पंगु बना देता है । इस स्थिति में असद से थोडा बहुत मानसिक सहयोग प्राप्त कर उसकी ओर खींच जाना रत्ती के लिए स्वाभाविक ही था । असद की मृत्यु फिर से रत्ती को बेसहारा बना देती है और आहत मनोवृत्ति फिर से जागरूक होती हुई नारी की अंतरतम मनोवृत्तियों के संवेदनात्मक स्तरों को उभारती हुई तलाश जारी रखती है । रत्ती की मानसिकता को सही मायने में स्वीकारनेवाला और उसकी अस्मिता को सही अर्थ में समझनेवाला कोई भी उसे दिखाई नहीं पडता । इस स्थिति में लेखिका ने उसकी संवेदना को अधिक प्रतिशोधात्मक और स्थिर बनाने की कोशिश की है । हर पुरुष पात्र उसके लिए अयोग्य स्थापित होता है या पुरुषों के लिए वह अयोग्य स्थापित होती है । दोनों दृष्टियों से यह संवेदना बहुत ही अनोखे स्तर की बनती हुई रचना प्रक्रिया में समाहित हो जाती है । इस तरह अंधकार में खिलनेवाली सूरजमुखी की पंखुडियाँ संवेदना की अनदेखी रंगीनियों को उभारकर अंधकार में ही विलीन हो जाती है । इस रंगीनी को समझने के लिए अंधकार में चमकनेवाली आँखों की ज़रूरत है जो सूक्ष्मता के साथ उन रंगों की, बारीकियों को और उसकी मोहकता को समझने में सफल निकले ।

रत्ती की संवेदना को रूपायित करते समय लेखिका ने उसको अनेक व्यक्तियों से मेल कराकर व्यक्तित्व के बहु आयामी संवेदना के स्तरों को पकडने की कोशिश की है । कहीं नारी की पुरुषोन्मुख

इच्छा और उसी की बाहों में बस जाने की अभिवांछा व्यक्त होती है तो मातृभाव की अनोखी व्यथा का भी एहसास होता है । रीमा-केशी के साथ रहते हुए रत्ती के मन में "कुमू" के प्रति जन्म लेनेवाली संवेदना मातृप्रेम के ही पक्षों से जुडती है । कुछ समय के लिए उन्हीं के साथ-रहते हुए वह इस अनोखे स्पर्श से जन्म लेनेवाले आनन्द का अनुभव कर लेती है । रत्ती और अधिक समय के लिए उनके साथ रुक नहीं पाती । क्योंकि हर कहीं उसे यह महसूस होता है कि वह एक अनचाही वस्तु है जो दूसरों की आँखों में हमेशा खटकती है ।

रत्ती को फिर भी इन्तज़ार है किसी से मिलने की और किसी से जुडने की । प्रकाश में अपने चेहरे को जो नहीं दिखा सकती वह अंधकार में आनेवाले सूरज, दिवाकर की उसे प्रतीक्षा है । यहाँ पत्नीत्व का स्थान ग्रहण करने की इच्छा नहीं अपितु उस व्यक्ति से जुडने की आकांक्षा मात्र है । जो रत्ती मानसिकता को सही मायनों में समझ सकता है । अस्मिता की तलाश और अनोखी भूमिकाएँ रत्ती को संवेदनात्मक अजनबीपन के अन्दरूनी गलियों से गुज़ारता है । कृष्णा सोबती ने "सूरजमुखी अंधेरे के" की संवेदना को और उसका रचना धर्मिता को साधारण से अलग वर्णों से रेखांकित किया है । संवेदना की विशिष्ट स्थितियों का परिचय निम्नलिखित उदाहरणों में प्रस्तुत होता है ।

उपन्यास के शुरू में ही रत्ती की जीवन की झलक उसके विचारों से पाठक को प्राप्त होता है । जैसे "वह जिसने कभी किसी को नहीं पाया और जिसको कभी किसी ने नहीं । स्लाई से रत्ती की आँखें डबडबा आई । चाल धीमी हो गई । जिस सडक का कोई किनारा नहीं - रत्ती वही है । वह आप ही अपनी सडक का "डैड-एण्ड" है । आखिरी छोर है ।"[1]

संक्षेप में रत्ती की विशिष्ट मनोवृत्ति और उस मनोवृत्ति को सहारा देनेवाली परिस्थिति दोनों औपन्यासिक परिकल्पना को प्रभावात्मक बनाती है । "सूरजमुखी अंधेरे के" इस दृष्टि से असामान्य संवेदना का असाधारण आविष्कार बन जाता है ।

उपर्युक्त चारों उपन्यासों में व्यक्तिवादी संवेदना के चार अलग से स्वरूप उभरते हैं । "रुकोगी नहीं राधिका" में संवेदना का रूपायन, अस्मिता की तलाश और विद्रोह के पक्षों से जुडता हैं । "सूरजमुखी अंधेरे के" में कृष्णा सोबती ने व्यक्तिवादी संवेदना की द्वन्द्वात्मक और संघर्षरत गहराई को रत्ती के माध्यम से उभारा है । "वे दिन" उपन्यास की संवेदना अभारतीय परिवेश से जुडकर लगाव, अलगाव और परिवेशजन्य दबावों के बीच से गुजरती चेतना के स्तरों का स्पर्श करती है ।

---

1. सूरजमुखी अंधेरे के - कृष्णा सोबती - पृ. 11

"डाक बँगला" की नायिका का स्वर पराधीनता के और विडंबनात्मक स्थितियों से जन्मी हुई हताशा और उसी के बीच जीने की दुविधा के स्वाभाविक परिणाम है, जिसको किसी भी दृष्टि से नकारा नहीं जा सकता ।

§2§ सामाजिक संवेदना का रूपायन :-

आलोच्य उपन्यासों में सामाजिक संवेदना का रूपायन विशेष स्थितियों से जुडकर होता है । सामाजिक संवेदना से तात्पर्य समाजबद्धता से जुडी हुई उस प्रतिक्रियात्मक अवधारणा से है जो व्यक्तिमन को समाजसत्य के उन्मुख करती है और उसी के इर्द-गिर्द रूपायित होती है । इस अवधारणा से जुडी हुई स्थितियों की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने वाले उपन्यास हैं "अन्धेरे बन्द कमरे," "आपका बंटी" और "अलग अलग वैतरणी" । इन तीनों उपन्यासों में समाजबद्धता और व्यक्तिसत्य के बीच का संघर्ष, सर्जनात्मक स्थितियों की गहराई में विद्यमान है । वस्तुत: इसकी कथ्यात्मक अवस्थाएँ व्यक्ति के समाज के ढाँचे से जुडने और अलग होने के परिणामस्वरूप जन्म लेती है । अत: व्यक्ति की मान्यताओं और समाज की मान्यताओं के बीच जन्म लेनेवाला द्विविधात्मक बोध इसके बीच प्रवर्तमान होता है । प्रतिबद्धता के और वैयक्तिक आज़ादी के विरोधी पक्ष कथ्यात्मकता को प्रसंगों की विशिष्टता से जोडते हैं और संवेदना की गतिशीलता को बनाए रखते हैं । इस गतिशीलता के अन्दरूनी धारा नैतिक मूल्यसंदर्भों को और समाज की परंपराओं को परिवर्तित जीवनबोध की स्थितियों से जोडती हुई एक नई संरचनात्मक भूमिका की सृष्टि करती है ।

अँधेरे बन्द कमरे

जीवन के अँधेरे और उजालों की बदलती स्थितियों की कहानी नगर के परिवर्तित जीवन की बोधवत्ता से जोडने का प्रयास करनेवाला एक सशक्त उपन्यास है "अँधेरे बन्द कमरे" । दिल्ली के गली-गलूचों के बीच और विकसित होनेवाली संस्कृति के बीच, यांत्रिक जीवन की तेज़ रफ्तार के बीच रूप ग्रहण करनेवाला इसका कथ्य हरबंस और नीलिमा की अलग-अलग मानसिकताओं का दस्तावेज़ ही नहीं, अपितु एक बदलती जीवन दृष्टि का परिचायक भी है । समझौते का ह्रास, अहं का विकास, ईर्ष्या का जन्म, अपनी-अपनी वैयक्तिकता की सुरक्षा, ये कुछ ऐसे तत्व है जो आधुनिक पति-पत्नी के संबंधों को खोखला बना देते हैं । एक ही छत के नीचे रहकर भी अलग-अलग बन्द कमरों की तन्हाई में आदान-प्रदान रहित जीवन बिताने की विडंबना शहर में जीनेवाले पति-पत्नियों की नियति बनती जा रही हैं । इस भ्रमात्मक परिवेश की गहराई में सच्चाई की खोज करने का न किसी के पास समय होता है, न उसकी आवश्यकता ही महसूस की जाती है । समानांतर रूप में जन्म लेनेवाली मधुसूदन, सुषमा और शुक्ला की मानसिकताएँ शहर की धुंधुलकी में टिमटिमानेवाले दीपकों की रोशनी के समान ही आँखों से ओझल हो जाती है । मधुसूदन बस्ती के किसी मुहल्ले में आत्मीयता की खोज ज़ारी रखना चाहता है तो सुषमा से हमेशा के लिए उसका संबंध टूट सा जाता है । "अँधेरे बन्द कमरे" की स्थितियाँ बनते बिगडते संबंध और उनके बनाने-बिगाडने में समाज की भूमिका दोनों के अन्दरूनी पक्षों को ढूँढ निकालना चाहती है । यद्यपि सामाजिक संवेदना के संदर्भ में प्रस्तुत

उपन्यास पर विचार किया गया है, फिर भी इसमें वैयक्तिकता और अहंवादिता के अनेक आयाम रूपायित होते दिखाई पड़ते हैं । इस कारण सामाजिक संवेदना के परिप्रेक्ष्य में वैयक्तिक संवेदना को आँकने की कोशिश सर्जनात्मकता को अधिक महत्वपूर्ण बना देती है । अंतर्संघर्ष, अनिश्चित स्थितियाँ और अचानक मोड़ लेनेवाली घटना प्रक्रिया संवेदना के पक्षों को बहुरंगी बना देते हैं । निम्नलिखित उदाहरणों में उपर्युक्त स्थितियाँ विवेचित होती है ।

शुक्ल के विवाह से संबंधित जो बातें होती हैं उससे हरबंस को बहुत ठेस पहुँचता है । घर छोड़कर चले जाने के निश्चय के बारे में वह जब मधुसूदन से कहता है उन शब्दों में उसकी संवेदना उतर आती हैं - "मुझे आज अच्छी तरह पता चल गया है कि जिस घर में मैं रहता हूँ, वह मेरा घर नहीं है और जिसे मैं अपनी पत्नी समझता हूँ, वह मेरी पत्नी नहीं है । मैं ने आज तक इन लोगों के लिए जो कुछ किया है, उसके लिए मुझे अफ़सोस है ।"[1]

हरबंस और नीलिमा दोनों एक दूसरे को समझते हुए भी न समझ पाने की स्थिति में है । "वह मुँह से चाहे जो कहे मगर मुझसे अलग होकर वह नहीं रह सकता । मैं यह बात बहुत अच्छी तरह जानती हूँ ।"[2]

---

1. अँधेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 104
2. अँधेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 109

नीलिमा के इन शब्दों में यह भावना स्पष्ट लक्षित होती हैं । "मुझे लगता है जैसे हम पति-पत्नी न होकर एक दूसरे के दुश्मन हों और साथ रहकर एक-दूसरे से किसी बात का बदला ले रहे हों । शायद उसके मन के सन्देह के कारण ही यह स्थिति पैदा होती है ।"[1] हरबंस और नीलिमा की ज़िन्दगी के बारे में नीलिमा का मधुसूदन से उक्त कथन उपन्यास की गहराई में बहनेवाली पति-पत्नी संबंधी अवधारणा का परिचायक है ।

वैसे सामाजिक संवेदना और वैयक्तिक संवेदना की समानांतर धारा "अंधेरे बन्द कमरे" में प्रवाहमान होती है । इस कारण समूचा कैनवास व्यक्तिसत्य और समाज सत्य के रंगों से बहुरंगी बन जाता है ।

अलग अलग वैतरणी

उधर "अलग अलग वैतरणी" में संवेदना का जो स्वरूप रूपायित होता है वह पारिवारिक स्थितियों से जुडता हुआ सामाजिक संवेदना के रूप को धारण करता है । करैता गाँव की ज़िन्दगी के परिप्रेक्ष्य में जन्म लेनेवाली स्थितियाँ बुझारथ सिंह, कनिया, विपिन, पुष्पा और जैपालसिंह की बदलती भूमिकाओं के बीच से गुज़रती है । और व्यक्ति की अलग सी मानसिकता को पारिवारिक और सामाजिक प्रतिक्रियाओं का शिकार

---

1. अंधेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 305

बनाती है । समूची संवेदना का पक्ष एक ऐसे समग्र बोध को आयामित करने के लिए सहायक होता है जिससे आदमी के ज़िन्दगी से संघर्ष और उसके परिणाम सशक्तता के साथ उभर कर आते हैं ।

करैता गाँव क्षेत्रगत एवं संस्कारगत सीमाओं से आबद्ध होते हुए भी समस्याओं की दृष्टि से और वहाँ पनपने वाली विशिष्ट मनोवृत्तियों की दृष्टि से समसामयिक परिवेश में जन्म लेनेवाली मानसिकता का, संबंधों की तटस्थता का व्यक्ति के टूटकर बिखरने का और नैतिक सीमारेखाओं को तोड़ने का संपूर्ण एहसास दिलाता है । बुझारथ संपूर्ण रूप से नहीं नायक बन सकता है न खलनायक ही । वास्तव में "अलग अलग वैतरणी" की संवेदना व्यक्ति के नायकत्व और खलनायकत्व से न जुड़कर परिवेशजन्य प्रतिक्रियाओं की अनौपचारिकता से जुड़ती है । निम्नलिखित प्रसंगों में स्थितियों के कुछ उदाहरण स्पष्ट होते हैं ।

जैपालसिंह के मरते वक्त, कनिया से पुत्र बुझारथ एवं विपिन के बारे में कहे गये शब्द ध्यान देने योग्य है - "तुम मेरे न रहने पर करैता चली जाना..... । मुझे बहुत दुःख है बहू ! मैं तो तुझे भवानी का प्रसाद मानता था बेटी । सोचता था दुःख, शोक, भय से तू कभी न घबड़ायेगी । यदि तू ही काँप जायेगी बेटी, तो जैपाल के खानदान का क्या होगा ?..... इसलिए कह रहा था बेटी कि मेरी आखिरी बात ज़रूर

मान लेना । तू करैता चली जाना ।..... शायद तेरे पास रहने से वह भूला-भटका भी राह पर आ जाये कभी ।.... बस तू इतना बचन दे दे कि तू उस बिन माँ के बच्चे से कभी नाराज़ न होगी ।"[1]

विपिन के जाते वक्त कनिया कहती है - "मैं तुम्हारे रास्ते में कभी रुकावट तो नहीं बनी विप्पी, और कभी बनूँगी भी नहीं । तुम्हारी खुशी में ही मेरी खुशी है । इतना ज़रूर चाहती हूँ कि जाते समय मुझे बेगाना बनाकर मत जाओ । हाँ, यह मेरा अन्तर्यामी जानता है विप्पी कि इससे अधिक मैं तुमसे और कुछ नहीं चाहती ।"[2]

उपर्युक्त झाँकियाँ उपन्यास के पात्रों की मानसिकता की सही तस्वीर प्रस्तुत करती है । अलग अलग वैतरणी की अनुभूतिपरक विशिष्टता समष्टिगत परिवेश से जुड़कर व्यक्ति की अकुलाहट की रूपरेखा प्रस्तुत करती है । सामाजिक संवेदना का व्यक्तिपरक पक्ष इस तरह उपन्यास के दोहरे संबंध को अभिव्यक्त करता है ।

---

1. अलग अलग वैतरणी - शिवप्रसाद सिंह - पृ. 68
2. अलग अलग वैतरणी - शिवप्रसाद सिंह - पृ. 475

आप का बंटी

सामाजिक संवेदना और वैयक्तिक संवेदना के बीच के द्वन्द्व से जन्म लेनेवाली प्रतिक्रिया "आप का बंटी" उपन्यास की रचनाधर्मिता की अन्तरधारा करती है । पात्रों की मानसिकता परिपार्श्व के विरोधी स्थितियों से जुडकर अन्दरूनी संघर्ष को जन्म देती है और इस विशिष्ट मानसिक भूमि पर सारे कथ्य की अवधारणा रूपायित होती है । आप का बंटी की आंदरिक अनुभूति व्यक्ति के व्यक्ति से अलग हो जाने की स्थितियों में जन्म लेनेवाले समस्यामूलक बोध से जुडती है । यह बोध सामाजिक व्यवस्था के परिणामों से जन्मी हुई त्रासद प्रतिक्रिया को बंटी के माध्यम से प्रस्तुत करता है । पति-पत्नी और पुत्र के बीच के भावुकतापूर्ण संबंधों में आई हुई दरारें समूची रचना प्रक्रिया में आद्यंत दिखाई पडती है । संबंधों के टूट जाने के परिणाम बालक के मन को इस तरह आहत करते हैं कि कभी शकुन और अजय इसकी गहराई को नहीं समझ पाते । सारे उपन्यास की संवेदना इस तरह वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक व्यवस्था की आंतरिकता से जुडती है ।

वैसे यह उपन्यास एक सीमा तक अहंवादी चेतना से प्रभावित है जिसका बाह्य पक्ष व्यवस्था और आचरण के तत्वों से टकराता है । पत्नी को पति की इच्छाओं के अनुसार अपनी इच्छाओं को व्यवस्थित करने की प्राचीन मान्यता के विरुद्ध पत्नी की आवाज़ शकुन में मुखरित होती है । यहाँ से शकुन और अजय दो अलग इकाइयाँ बनते हैं और

बंटी उन इकाइयों के बीच एक तीसरा इकाई बन जाता है । वैयक्तिक संवेदना सामाजिक संवेदना से जब विरोधी स्थिति में रहती है, तब पैदा होनेवाली विडंबनाएँ "आप का बंटी" को विशेष महत्व प्रदान करती है । एक प्रकार से तीनों पात्र आत्मसंघर्ष के शिकार है जिनकी अभिव्यक्ति निम्नप्रसंगों में होती है ।

बंटी को अजय के साथ भेजने के बारे में शकुन का विचार ध्यान देने योग्य है - "बंटी को दरार ही बनना है तो मीरा और अजय के बीच में बने । अजय भी तो जाने कि बच्चे को लेकर किस तरह की यातना से गुज़रना होता है ।" इसके साथ शकुन के मन में बंटी का निरीह, सहमा और बेबस-सा चेहरा उभर आता है । "ममी, मैं ने तो पापा से कह दिया कि ममी के बिना मैं कहीं जा ही नहीं सकता.... ममी मैं तुम्हें कभी नहीं छोड़ूँगा ।..... मत रोओ ममी मत रोओ ।"[1]

इस तरह "आप का बंटी" में प्रतिबिंबित होनेवाली भावात्मकता वस्तुगत और व्यक्तिगत यथार्थ के अनदेखे पक्षों को उभर कर रखती है । यहाँ व्यक्ति का अस्तित्व, और उसकी प्रतिक्रियाएँ एक समग्र सामाजिक सत्य के विरोध में जन्म लेकर नई परिस्थितियों का एहसास कराते हैं ।

---

1. आप का बंटी - मन्नू भण्डारी - पृ. 109

§3§ राजनैतिक संवेदना का रूपायन :-

आधुनिक युगबोध को रूपायित करने में राजनैतिक शक्ति और उससे जनित प्रभुता का बडा ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है । क्योंकि, राजनीतिक शक्ति के सामने सारी सामाजिक, आर्थिक एवं सांप्रदायिक स्थितियाँ बनती-बिगडती है । वस्तुतः अंग्रेज़ी शासन की परिसमाप्ति के उपरांत जनजीवन की व्यवस्था एक बडी सीमा तक स्थानीय और केन्द्रीय नेताओं के इशारों पर परिवर्तित होती रही । नेताओं के कारनामे आदर्शों की ऊँचाइयों को छोडकर जब भ्रष्टाचार की गन्दगी की ओर प्रवाहित होने लगे, तब से भारतीय राजनीति की दुविधापूर्ण स्थिति का इतिहास शुरू होता है । इससे जनित संघर्षमयी संवेदना को स्वरबद्ध करने का प्रयास "उखडे हुए लोग", "यह पथ बन्धु था", "राग दरबारी" और "महाभोज" जैसी रचनाओं को विशिष्ट बना देता है ।

राजेन्द्र यादव के "उखड़े हुए लोग" की जो संवेदना है, वह आज़ादी की प्राप्ति के इर्द-गिर्द जन्म लेनेवाली नेतागिरी और उसकी भ्रष्ट आचरण नीति का सत्ता के साथ जुडकर किए जानेवाले शोषण का पर्दाफाश करती है । शोषण की और प्रपीड़न की कथ्यात्मक स्थितियाँ देश बन्धु के काले करतूतों का पर्दाफाश करती है जहाँ राजनीति की आड में महान नेता बनने की साजिशें खुलने लगती है । शरद, जया, सूरज, मायादेवी और पद्मा इस प्रपीडन की कहानी के प्रमुख पात्र बनकर संवेदना के अनोखे

स्तरों को प्रस्तुत करते हैं । "उखड़े हुए लोग" उपन्यास वास्तव में मूल्यों से, नैतिकता से और अपनी धरती से उखड कर बर्बाद हो जानेवाले लोगों की कहानी है । इस कहानी को तटस्थता के साथ प्रस्तुत करते हुए राजेन्द्र यादव ने भारतीय राजनीति में आई हुई मूलभूत भ्रष्ट मनोवृत्ति का रेखांकन किया है । वस्तुतः राजेन्द्र यादव ने एक ऐसी संवेदना के स्वरूप को कथ्यात्मकता के अन्दर से उभारा है, जो स्वतंत्रता के इर्द-गिर्द उभरनेवाली है । ये नेता अपने चारों तरफ एक ऐसी ऐन्द्रजालिक प्रभाव की सृष्टि करते हैं जिससे कि लोग यह समझते हैं कि यह गाँधीजी के या नेहरूजी के समकक्ष स्थान प्राप्त करनेवाला नेता है । इस भ्रम के पर्दे के पीछे अनैतिक एवं वासना से भरपूर जीवन का आयोजन किया जाता है । इसके खिलाफ आवाज़ उठाने की शक्ति और क्षमता सूरज, शरद, जया और पद्मा में नहीं होती । पद्मा, आत्महत्या के माध्यम से जीवन से मुक्ति प्राप्त करती हैं । सूरज को अपना पद खोना पडता है । इस प्रपीड़न और प्रताडन के वातावरण से स्वदेश महल के कण्डीली, ज़हरीली धरती से जया और शरद भाग निकलते हैं । यही उनकी मुक्ति है ।

राजेन्द्र यादव ने इस उपन्यास में संवेदना के अलग अलग स्थितियों को निम्नलिखित रूप में शब्द-बद्ध किया है ।

"उखड़े हुए लोग" का केन्द्रबिन्दु देशबन्धु नामक राजनैतिक नेता है जिसे आदर्श नेता के रूप में लोग स्वीकारते हैं । उसकी असलियत

सूरज के शब्दों में झलकती हैं "जो आदमी बयालीस में माँफी माँगकर छूटा हो, वह कहता है कि पाँच की जगह पाँच हज़ार क्यों नहीं मरे ।"[1]

सरदार पटेल की मृत्यु की जानकारी प्राप्त करने पर देशबन्धु का कहना है - "जो होना था वह तो हो चुका, अब होते हुए को क्यों बिगाडते हो ? कुछ लौट तो सकता नहीं है । रंग में भंग ज़रूर पड जायेगा ।"[2]

"उखडे हुए लोग" की राजनैतिक चेतना इस दृष्टि से विशिष्ट बन जाती है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की राजनैतिक स्थिति का सही अंकन इसी में हुआ है । भ्रष्टता की ओर और उससे जनित जीवन की दुविधा की ओर राजनैतिक दृष्टि से विचार करने का प्रयास सबसे पहले इस उपन्यास में सफलता के साथ प्रकट होता है । राजनीतिक जीवन की पृष्ठभूमि को सर्जना के क्षेत्र में ले आने का कार्य और उसी से जनित रचनाप्रक्रिया इस उपन्यास की कथ्यात्मकता को और संवेदना को महत्वपूर्ण बना देती है ।

यह पथ बंधु था

राजनैतिक संवेदना का एक अछूता रूप नरेश मेहता का "यह पथ बन्धु था" प्रस्तुत करता है । राष्ट्र प्रेम के जोशीले वातावरण में

---

1. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 380
2. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 371

जन्म लेनेवाली मूल संवेदना स्वतंत्रता संग्राम की अन्दरूनी दलगत नीतियों का और नेतागिरी को प्राप्त करने के षड्यंत्रों का अनावरण करती हुई श्रीधर बाबू की ट्रेजेडी का प्रभावात्मक रूप प्रस्तुत करती है । राजनीतिक चेतना से जुडी हुई आदर्श भावधारा का उत्थान और पतन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करना उपन्यासकार की मौलिक संवेदना का परिचायक है । व्यक्ति की संघर्षरत मनोवृत्ति का और उसकी आत्मीयता का शोषणग्रस्त समाज के भँवर में फँस जाने की स्थिति आद्यंत इस राजनैतिक उपन्यास में मुखरित होती रही है । वैसे श्रीधर बाबू उस पथ की ओर मुडकर देखता है जो पथ उसके लिए बन्धुत्व का प्रतीक था । अब यथार्थ की भूमि पर खडे होकर देखते समय उसे एक ओर उसकी दम तोडनेवाली पत्नी और दूसरी ओर पंगु बनाई हुई बेटी ही दिखाई पडती है । वह रास्ता टेढा मेढा, कंकरीला, काँटों से भरा और विषैले पेडों की छाया से भरपूर लगता है । स्वतंत्रता संग्राम में आत्मीयता को अपनानेवाले आम आदमी की यही दुर्गति रही है, क्योंकि राजनैतिक धाँधली का प्राथमिक प्रयोग स्वतंत्रता-संग्राम की रणभूमि में ही हुआ था ।

संवेदना के स्वर को राजनीतिक चेतना के साथ जोडकर व्यक्ति की असहायता और पराजयबोध की स्थितियाँ उजागर करते समय जो प्रसंग उभरते हैं, उन में से कुछ ध्यान देने योग्य है ।

काशी छोडते हुए घर लौटते समय श्रीधर का विचार, आदर्श व्यक्ति के टूटने की स्थिति को दर्शानेवाला है । "सब ने उन्हें एक सीमा के बाद निरर्थक समझ फेंक दिया । अपना संपूर्ण जीवन, स्वास्थ्य, कर्मठता काशी को सौंप, वृद्ध, बीमार, असफल, निरवलंबित बने मालवा की ओर लौट रहे थे । उस घर की ओर जिसके बनने-मिटने में उन्होंने यही सहयोग दिया था कि वे लोग मिट जाएँ ।"[1]

"उस दिन दरवाज़े के उस पार एक संसार की आशा थी आँखों में, पैरों में, हाथों में, लेकिन आज दरवाज़े के इस पार खडे होकर टूटे हुए वृद्ध की भाँति बाहर को बाहर ही छोडकर घर में हैं जहाँ जाने क्या-क्या बदल चुका है । गुनी के आँसू तो वे देख चुके हैं पता नहीं सरो..... जिसने कि उन्हें दरवाज़े की आड से देख लिया होगा । जिसकी केवल सुबूक भर हौले से सुनाई पडी थी । कैसा घर है यह ? क्या इसी हाहाकार के लिए घर होता है ? लेकिन इस हाहाकार का दायित्व किस पर ? हमारा पुरुषार्थ, आदर्श, कर्म सब जब झूठे पड़ जाएँ तो व्यक्ति क्या करें ?"[2]

उपर्युक्त उदाहरण श्रीधर बाबू की हताशा और निराशा के चेहरे को उभारते है । स्वतंत्रता प्राप्ति से जुडी हुई राजनैतिक चेतना का सही दस्तावेज़ के रूप में इस प्रतिक्रिया को स्वीकारा जा सकता है ।

---

1. यह पथ बंधु था - नरेश मेहता - पृ. 567
2. वही - पृ. 573

खन्ना और मालवीय कालेज की स्थिति को सुधार नहीं सकते । बदले गाँव की सहकारी संस्था भी वैद्य के इशारों पर आर्थिक अपहरण का शिकार बन जाती है । बडे ही व्यंग्यात्मक शैली में देश के राजतंत्र के साजिशों की और उसी के बीच पनपनेवाले शोषकों की प्रतीकात्मक कहानी उपन्यासकार ने प्रस्तुत की है । वस्तुतः "राग दरबारी" की संवेदना भारतीय जनमानस पर आए हुए राजनैतिक शोषण से निर्धारित परिवर्तन का प्रभाव ध्यान देने योग्य है ।

रंगनाथ ट्रक के ड्राइवर से कहता हैं "ड्राइवर साहब तुम्हारा गियर तो बिलकुल अपने देश की हुकूमत-जैसा है । उसे चाहे जितनी बार टॉप गियर में डालो, दो गज चलते ही फिसल जाती हैं और लौटकर अपने खाँचे में आ जाती हैं ।"[1] आज राजनैतिक मूल्यों में आए हुए बदलाव से देश का बिगडी हुई हाल पर व्यंग्य करते है उपन्यासकार ।

रंगनाथ जब खन्ना मास्टर के जगह नौकरी मिलने के बारे में अपना विरोध प्रकट करते हैं, तब प्रिंसिपल का कहना ध्यान देने योग्य है "इससे कहाँ तक बचोगे बाबू रंगनाथ । जहाँ जाओगे, तुम्हें किसी खन्ना की ही जगह मिलेगी । बाबू रंगनाथ, तुम्हारे विचार बहुत ऊँचे हैं । पर कुल मिलाकर उनसे यही साबित होता है कि तुम गधे हो ।"[2] "राग

---

1. राग दरबारी - श्रीलाल शुक्ल - पृ. 8
2. वही - पृ. 383

दरबारी" में राजनैतिक चेतना को व्यंग्य के सहारे संवेद्य बनाने का सफल प्रयास दिखाई पड़ता है । श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य बड़ी गहराई तक चुभनेवाला है । लोगों को सावधान करने के लिए इस प्रकार के व्यंग्य का प्रयोग सार्थक होता है ।

महाभोज

स्वातंत्र्योत्तरकालीन राजनीतिक परिवेश के बीच रूपायित होनेवाली सत्ता केन्द्रित भ्रष्टता का और जातिगत, सांप्रदायिक, दल-नीति का प्रस्तुतीकरण मन्नू भण्डारी के "महाभोज" में होता है । महाभोज, मुर्दों के टीलों पर माँस खाने के लिए चारों दिशाओं से उड आने-वाले राजनेता रूपी गीदडों की होड की कहानी है । हरिजनों की सहानुभूति को प्राप्त कर वोटों पर कब्जा करने की साजिश का परिणाम है उनकी ही बस्ती को जला देना और बिसू को मार डालना । बिसू की हत्या से संबंधित आरोप-प्रत्यारोप के बीच मुख्यमंत्री दा साहब प्रतियोगी सुकूल बाबू दोनों अपने अपने खेल जारी रखते हैं । हत्यारा जोरावर सिंह को बचाना, ईमानदार पुलिस अफसर सक्सेना को बर्खास्त करना, सहानुभूति प्राप्त करने के लिए हरिजन बस्ती में सभाओं का आयोजन करना दा साहब की चालबाजी का अंश है । सुकूल बाबू भी दाँव-पेंच की नीति में दा साहब से कम नहीं दीखते । इसी बीच बेचारे हरिजन लोगों की दुर्गति होती रहती है । हरिजनों की सुरक्षा की जो नीति सरकार ने बनाई थी वही अरक्षा में परिवर्तित हो जाती है और यही "महाभोज" की ट्रेजेडी है ।

संवेदनात्मक स्तर पर मानवीय पक्षों का राजनैतिक आयाम इस उपन्यास को विशिष्ट बना देता है । यहाँ बिसू के लिए रोनेवाला और न्याय की माँग करनेवाला कोई भी व्यक्ति नहीं, उसकी विधवा रुक्मा, बर्खास्त अफ़सर सक्सेना और बिंदा जैसे लोगों की आवाज़ आरण्यरोदन बनकर रह जाती है । सत्ता की रक्षा के लिए बिसू का मरना एक महज आवश्यकता है । अब बिसू एक व्यक्ति नहीं रहा । वह एक घटना है और वोटों के खजाने को खोलने की एक कुंजी है । इस कुंजी को प्राप्त करके वोटों की लूटमार करना ही दोनों पक्षों का लक्ष्य है । आज़ादी का अर्थ उसकी बदली हुई मूल्यवत्ता, जनता का उसमें योगदान, सत्ता से भ्रष्टता का पनपना, व्यक्ति की अपनी महत्ता खो बैठना कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिनको प्रसंगानुकूल मन्नू भण्डारी ने संवेदना के अंदर आयामित किया है । निम्नलिखित प्रसंगों में ये स्थितियाँ स्वयं स्पष्ट होने लगती है ।

बिसू की मृत्यु की बात को लेकर सुकूल बाबू सरकार के विरोध में बोलता है । सरकार से जवाब माँगनेवाले भाषण के बारे में सुनने पर दा साहब की प्रतिक्रिया, राजनैतिक नेता की कुशलता एवं ढोंग का सशक्त प्रमाण देती है । "दुहाई गरीबों की सब देते हैं, पर उनके हित की बात कोई नहीं सोचता । जनता को बाँटकर रखो..... कभी जात की दीवारें खींचकर, तो कभी वर्ग की दीवारें खींचकर ! जनता का बँटा-बिखरापन ही तो स्वार्थी राजनेताओं की शक्ति का स्रोत है । कुछ गलत कह रहा हूँ मैं ?"[1]

---

1. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 40

आदर्श राजनीतिक नेता लोचन बाबू के जीवन में आने वाली स्थितियाँ राजनीति के क्षेत्र में आदर्शवान व्यक्ति की हालत बतानेवाली है । "क्या इसी परिवर्तन के लिए सुकुल बाबू की पार्टी और विधानसभा छोडी थी उन्होंने ? इसी क्रांति का सपना देखा था ? नाम, चेहरे, लेबुल, भले ही अलग अलग हों - पर अलभाव कहाँ - सुकुल बाबू दा साहब..... राव.... चौधरी..... । तब ?"[1]

"महाभोज" के राजनैतिक संवेदना समसामयिक राजनीति के उस पक्ष को उजागर करती है जहाँ दल जनसेवा के मंच न रहकर जनशोषण के अड्डे बन गए हैं । राजतंत्र, जनतंत्र का नाम नहीं है । सत्ता भ्रष्टता की उँगली पकडकर चलती है । इस तरह राजनीति के दृश्य एक प्रदर्शिनी के अंग बन जाते हैं । इस प्रदर्शिनी में गीदडों का आगमन होता है, आहत लोगों के माँस को खाने के लिए ।

§4§ अराजकतावादी संवेदना का रूपायन :-

स्वातंत्र्योत्तरकालीन परिस्थितियों में जन्म लेनेवाली मूल्य परिवर्तन की पृष्ठभूमि में सर्जित होनेवाली चेतना व्यक्ति के नैतिक बोध पर प्रहार करती हुई नई संवेदना को जन्म देती दिखाई पडती है ।

---

1. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 58

आतंकित चेतना के कुछ ऐसे पक्ष संवेदना के आतंकित पहलुओं पर जा टिकते हैं । भय, अविश्वास और आतंक से भरपूर अराजकतावादी जीवन का बहु आयामी पक्ष प्रस्तुत करने में राजेन्द्र यादव का "उखडे हुए लोग", भीष्म साहनी की "कड़ियाँ" नरेन्द्र कोहली का "आतंक" विशेष ध्यान देने योग्य बनते हैं । इन रचनाओं की अंतरधारा में परिलक्षित होनेवाली संवेदना अराजकतावादी बनती है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । क्योंकि समाज की नैतिकता, संबंधों की अर्थहीनता, न्याय -अन्याय की बदलती भूमिका सत्ता का प्रहार आदि इस संवेदना को रूपायित करने में अपनी अपनी भूमिका अदा करते रहे हैं ।

अराजकतावाद का आधार कहीं-न-कहीं कुण्ठित मानसिकता का पक्ष लेता है जिसमें मानसिक असंतुलन का बोध बना रहता है । असंतोष, अत्याचार, नीतिनिषेध कुछ ऐसे मुद्दे हैं, जिनके कारण प्रचलित व्यवस्था के प्रति वैयक्तिक विद्रोह अराजकता का रूप धारण करता है । सत्ता के द्वारा आयामित अव्यवस्था समाज में दूसरे प्रकार की अराजकता को जन्म देती है । जो भी हो अराजकतावादी चेतना स्वस्थ जीवन की श्मशान भूमि से उभरती है ।

"उखडे हुए लोग" में जो अराजकता उभरती है वह नैतिक मूल्यच्युति के परिणामस्वरूप सत्ताधारी राजनीतिज्ञों के माध्यम से जन्म

लेती है यह एक समसामयिक समस्या है जिसकी प्रासंगिकता आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है । इस संवेदनात्मक स्थिति के पीछे भ्रष्ट राजनीतिज्ञ के काले करतूत छिपे हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप आम आदमी को शिक्षित और अशिक्षित महिलाओं को और अस्वस्थ परिवारों को उखडना पडता है । स्वदेश महल के इर्द-गिर्द इस अराजकता की छाया मँडराती है और इसी से मुक्ति पाने के लिए प्रत्येक आज़ाद आदमी झटपटाता रहता है । मायादेवी की तो मुक्ति कभी नहीं हो सकती, क्योंकि वह उस अराजकता को घुमानेवाली धुरी का अंश बन गई है । पद्मा को मुक्ति के लिए दम तोडना पडता है । भय, आतंक, शोषण और अत्याचार से भरपूर यह वातावरण स्वातंत्र्योत्तर भारत के राजनीतिक भ्रष्टता से जन्मे हुए स्वदेश महलों के हर चार दीवारी के अंदर बरकरार है । यह अराजकतावाद मानवीयता के अस्तित्व के प्रति एक प्रश्नचिह्न है जो आज भी हर घडी किसी-न-किसी अनदेखे, अनजाने स्वदेश महल के दीवारों के अंदर जन्म लेता है ।

स्वदेश महल रूपी कारागार में राजनैतिक नेता देशबन्धु द्वारा प्रेम के ढोंग रचकर बन्ध रहनेवाली मायादेवी को पति, सारी संपत्ति और पुत्री का नष्ट सहनी पडती है । मायादेवी के साथ वह प्रेम का ढोंग रचकर उसे फँसाते हैं । मायादेवी के शब्दों में ही वह व्यक्त होता है । "कोई बात नहीं - मैं ने तुमसे प्रेम किया है - तुम्हारी आत्मा और गुणों से प्रेम किया है । तुम विवाहित हो, यह बात बता देते तो अच्छा था - और जब नहीं बताया, तो खैर कोई बात नहीं है ।"[1]

---

1. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 392

अराजकतावाद का प्राथमिक पक्ष प्रस्तुत करनेवाला यह उपन्यास अपने घटना विधान से पाठक को कई संदर्भों में झकझोर कर देता है ।

कड़ियाँ

नैतिक अराजकता का बोध करानेवाली रचना के रूप में कड़ियाँ चर्चा के योग्य बनती है । परिवार में प्रवेश करनेवाली अनैतिकता पति-पत्नी को अलग अलग मानसिकता से युक्त बना देती है । संबंधों का टूट जाना, पति का दूसरी औरत की तलाश करना और अपनी शारीरिक भूख को मिटाना, कुछ ऐसे तत्व हैं जिनको समसामयिक जीवन की स्थितियों से आबद्ध किया जा सकता है ।

महेन्द्र और प्रमिला, पति-पत्नी की भूमिका को सही ढंग से नहीं निभा पाते । पत्नी को अपने लिए अयोग्य समझनेवाला महेन्द्र मंगलसूत्र के बंधन को एक जंजीर मात्र मानता है जिससे वह बँधा हुआ है । भौतिक सुख-सुविधाओं की पूर्ति के लिए ही उसको तोडकर नैतिकता पर प्रहार करनेवाला पति बनकर वह "कड़ियाँ" उपन्यास में एक नई भूमिका को अदा करता है । नारी देह को पुरुष की इच्छा की पूर्ति के लिए सर्जित वस्तु मानकर व्यवहार करना, महेन्द्र की दृष्टि की विशेषता है जो सारे उपन्यास की समस्या का आधार है । प्रमिला से ऊबकर वह सुषमा की

ओर आकर्षित हो जाता है । और बाद में सुषमा से अलग होकर मिसेज़ भगत के साथ संबंध स्थापित करने का प्रयास करता है । अपने व्यवहार के बारे में उसका कथन ध्यान देने योग्य है "मेरी, विवाह में या घरेलू ज़िन्दगी में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई है । मैं आज़ाद रहना चाहता हूँ । पप्पू बोर्डिंग स्कूल में रहे ।"[1] अपनी सुख-सुविधा एवं अनैतिक संबंधों के सामने पत्नी या पुत्र का उसके लिए कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है । महेन्द्र की इस मनोवृत्ति को उपन्यासकार सफलता से अभिव्यक्त करते हैं ।

प्रमिला का चरित्र भी इस संघर्षपूर्ण ज़िन्दगी के पक्ष को अधिक संकटपूर्ण बनाने में सहायक बनता है । प्रमिला, आधुनिक पत्नी की भूमिका नहीं अदा कर पाती । पति के विचारों को समझकर उसकी रुचि के अनुसार अपनी रुचि को बदलने की कोशिश वह कभी नहीं कर पाती । वह कभी भी इसकी ज़रूरत को महसूस नहीं करती । शायद इसी कारण उसको अत्यधिक दुविधा का भोग करना पडता है । पति उस पर, भावात्मक स्तर पर ऐसा प्रहार करता है कि वह विक्षिप्त हो जाती है, और उस विक्षिप्तता से मुक्ति पाना अत्यंत त्रासदायक होता है । सतवंत से कहे गए हर एक बात इसको प्रमाणित करता है ।

"कड़ियाँ" उपन्यास की संवेदना इस तरह पति-पत्नी के संबंधों के विघटन की कहानी प्रस्तुत करती है । परोक्ष रूप में इस के

---

1. कडियाँ - भीष्म साहनी - पृ.58

कथ्य से यह सूचित होता है कि संबंधों के बनाने बिगाडने में पति और पत्नी दोनों समान रूप से जिम्मेदार है । फिर भी इसको तोडने की जिम्मेदारी अधिकतर पुरुष पर ही लागू की जा सकती है ।

आतंक

"आतंक" उपन्यास में उस स्थिति का प्रभावात्मक वस्तुचित्रण मिलता है, जिसके आधार पर जीवन का आतंकित होकर अधूरा बन जाना एक सत्य बनता है । समसामयिक समाज में व्यक्ति की स्वतंत्रता समाज के एक ऐसे वर्ग की अमानत बन गई है जो पाशविक दमननीति का सहारा लेकर समाज पर छाया रहता है । इस वर्ग को शक्ति और प्रभुता प्राप्त होती है । राजनेताओं की भ्रष्टता की छाया में पनपनेवाला यह वर्ग स्वातंत्र्योत्तरकालीन भारतीय समाज का सबसे बडा अभिशाप है । आतंक की यह संवेदना एक ओर अत्यन्तपूर्व होती है, तो दूसरी ओर समाज की रुग्णता का बोध कराती है ।

मक्खनलाल का सर्जन एक एण्टी हीरो के रूप में हुआ है जो असल में सारे कार्यकलापों की ही भूमिका अदा करता है । उसके सारे कार्यकलापों का समर्थन आज के समाज में जीवित रहनेवाला एक

अल्पसंख्यक वर्ग अवश्य करता है । खून खराबे को, लूटमार को, अराजकता को, नैतिक विघटन को और हत्या को प्रश्रय देनेवाला यह वर्ग शहर के और गाँव के आतंक का आधार है । तभी बलराम को अपना फैसला बदलना पडता है और प्रो. कपिला को अपने सिद्धांतों से हाथ धोना पडता है । बलराम प्रो. कपिला के पास सलाह लेने के लिए आता है । कॉलेज की घटना के बारे में पूछने पर उसका कहना है "वे मेरे विद्यार्थी थे । डा. कपिला कुछ उत्तेजित स्वर में बोले । "इसका अर्थ यह हुआ कि अपराधी यदि अपना विद्यार्थी हो, अपना मित्र हो, रिश्तेदार हो तो उसकी रक्षा की जानी चाहिए ।"[1] बलराम की इन वाक्यों से डा. कपिला की स्थिति स्पष्ट हो जाता है कि मज़बूर होकर वह आदर्शों को छोडते हैं ।

बलराम की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है । बलराम अपना निर्णय ठाकुर वीरबहादूर सिंह से कहता है "इस केस में गवाही देने से मेरी भलाई नहीं है । किसी भी दृष्टि से यह ठीक नहीं है । इसमें बहुत जोखिम है, बहुत खतरा । आप मुझे क्षमा करेंगे । मैं गवाही नहीं दे सकूँगा ।"[2] मक्खनलाल, पत्नी दर्शना की हत्या के बारे में होने वाले जाँच-पडताल से बचने के लिए राजनैतिक नेता शर्माजी के पास पहुँचता है । तब उसको बचाने की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए शर्माजी उससे गुण्डावर्दी के सहारे अपने विरोधियों को ठिकाने पर लगाने के लिए

---

1. आतंक - नरेन्द्र कोहली - पृ. 194
2. आतंक - नरेन्द्र कोहली - पृ. 194

कहता है "चुनाव का मौसम है । जगह-जगह सभाएँ हो रही हैं । ज़रा सावधान रहना और अपने साथियों के साथ मिलकर देखना, हमारी पार्टी की सभाओं में गडबड न हो ।..... बरसात है न ! बहुत सारे मेढ़क टर्रा रहे हैं । माथुर और उसके साथियों को ठीक करना होगा । बहुत बोलने लगा है वह बरसाती मेढ़क ।"[1]

इसप्रकार "आतंक" की सारी रचना प्रक्रिया एक ऐसे भावपक्ष पर आधारित होती है जिसका बोध भय, त्रास और आतंक की डरावनी स्थितियों का परिचायक है । आदमी की अस्मिता का और उसके निर्णयों का कोई महत्व नहीं रह जाता । क्योंकि सारे फैसले दूसरे लोग करते हैं और आदमी को जीवित रहने के लिए आतंकित होकर उन फैसलों को मंजूरी करना पडता है ।

§4§ संरचनात्मक विशेषताएँ

संवेदना के सही पक्षों को आयामित करने के लिए संरचना के आंतरिक तत्वों को सजग भूमिका अदा करनी पडती है । संवेदना और संरचना को दो अलग दृष्टियों से यद्यपि नहीं देखा जा सकता, फिर भी रचना के अनेक चरण होते हैं, जिनकी विविधता के आधार पर संप्रेषण

---

1. आतंक नरेन्द्र कोहली पृ 88

की गत्यात्मकता बनी रहती है । संवेदना को सफल अभिव्यक्ति देने में और संप्रेषणीयता को पाठक के मन तक प्रभावात्मक ढंग से ले जाने में शब्दों का अर्थचयन और उनकी विशिष्ट प्रासंगिकता सफल भूमिका अदा करते हैं ।

आलोच्य उपन्यासों की रचना प्रक्रिया कई दृष्टियों से अपनी अलग पहचान की भूमिका बाँधती है । उपन्यासकारों ने एक जैसी रचनाशैली या शिल्पविधान का प्रश्रय नहीं लिया है । विषयानुकूल लेखकीय आविष्करण के क्षितिज परिवर्तित होते दिखाई पडते हैं । इस कारण संरचना के एक जैसे दृश्य, बिंब, प्रयोग, उदाहरण या प्रतीक उपन्यासों की स्थितियों में उभर कर नहीं आते ।

"उखडे हुए लोग" उपन्यास में राजेन्द्र यादव ने संवेदना को संरचना के बहुआयामी पक्षों के साथ जोडकर प्रस्तुत किया है । सामान्य दृष्टि से शैली और शिल्प के अंदर चर्चित होनेवाली संरचना, कई प्रकार की शैलियों को जन्म देती है । "उखडे हुए लोग" में रचना प्रक्रिया, शैलीगत विविधता से जुडती है । इसमें पत्र, डायरी, स्वप्न, संवाद, पूर्वदीप्ति, चित्रात्मकता, नाटकीय पद्धति जैसी प्रयोगात्मक शैलियों के माध्यम से संवेदना को आयामित किया गया है । कई प्रसंगों में लेखक की प्रस्तुति बहुत ही सटीक बन जाती हैं ।

औपन्यासिक शिल्प की विशिष्टता को दिखानेवाली चित्रात्मकता प्रथम अध्याय के आरंभ में ही देखी जा सकती है । "शरद ने उठकर खिड़की चढ़ा दी । इस समय गाड़ी बड़े सुन्दर पहाड़ी "लैण्डस्केप" से होकर गुज़र रही थी । पीछे और आगे पहाड थे और फारसी अक्षर "फ़े" के आकार में निरन्तर ऊपर उठता हुआ हरियाली का समुद्र दूर आसमान एक लहराता चला गया था ।"[1] इसी चित्र के साथ जया के चेहरा और फिर ट्रेन सफर के दृश्य आदि एक दूसरे चित्र को प्रस्तुत करते हैं ।

मानसिक स्थितियों को और स्पष्ट करने के लिए बिम्बों का प्रयोग हुआ है । जया, सूरज के यहाँ खाली थालों को उठाकर रखने के लिए जाती है तो सूरज की निषेधमुद्रा को बिम्बों के माध्यम से सुन्दर ढंग से इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है । "न, न, न, ये गज़ब मत कीजिए सूरज जी ने अपने पूरे पंजे इस तरह फैला दिए जैसे चील कुछ झपट कर ले जा रही हो या पीठ में पिस्तौल उड़ाकर कोई उसे "हैण्डस अप" करने को कह रहा हो ।"[2]

"डाक बँगला" उपन्यास की रचना प्रक्रिया में कमलेश्वर ने स्मृतिचित्रों का और यादों में उभरनेवाले दृश्यों का जहाँ एक ओर सहारा लिया है, वहाँ प्रकृति की सुन्दरता की शब्दिक अभिव्यक्ति को भी महत्व

---

1. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 9
2. उखडे हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 115

प्रदान किया है । "कथा का आरंभ स्मृति के रूप में होता है । तिलक कश्मीर यात्रा के प्रसंग को याद करता है । कमरे में अकेले घूमते हुए बतरा की परछाई उसकी "ओह गॉड" कहना तथा एक गज़ल गाना, उसकी आन्तरिक यंत्रणा-जन्य स्थगित स्थिति का प्रतीक है । डाक्टर का वाक्य "अब जैसा तुम चाहो ।"[1] उसके व्यक्तित्व की निरीहता, कातरता और दुर्बल पर निर्भरता का प्रतीक है ।

पात्रों के बीच के मानसिक लगाव के संदर्भ, कथा की आख्यान गति को नया मोड देने में सहायक सिद्ध होते हैं । शीला के साथ अपने संबंध के बारे में बतरा इरा से कहता है - "अपनी शारीरिक और आर्थिक ज़रूरतों को पूरा करने का यही साधन है उसके पास । बडे-बडे लोगों से मेल मुलाकात है उसकी और अब शायद पाँच सात हज़ार रुपया भी उसके पास है । इस बार कह रही थी - मन बहुत कोसता है, पर क्या करूँ ?.... वह एक शरीफ औरत है..... वक्त और पैसे की मार ने उसे बुरा बनाया है । वक्त की मार खाते-खाते अब वह बुरी बन गई है । मैं क्या करूँ उसके लिए ?"[2]

उधर डा. चन्द्रमोहन के साथ गुज़ारे हुए प्रसंगों में इरा के मानसिक संघर्ष बहुत ही प्रभावात्मक ढंग से शब्दों में उतर आता है ।

---

1. डाक बँगला - कमलेश्वर - पृ. 140
2. डाक बँगला - कमलेश्वर - पृ. 65

इरा की कुण्ठा और आंतरिक व्यथा को प्रकट करनेवाले ये प्रसंग रचना की दृष्टि से विशिष्ट बन जाते हैं । "आज भी डॉक्टर का अस्फुट स्वर सुनाई पडता है - अब जैसा तुम चाहो ! पर चाहते हुए भी मैं उसे नहीं बचा पाई । लेकिन इतना कह देने से मैं उऋण नहीं हो जाती । यह ऋण मैं कभी भी नहीं उतार सकती। और मेरे पास इसका कोई भी जवाब नहीं है जो मैं डाक्टर की आत्मा को दे सकूँ - अब जैसा तुम चाहो । अब जैसा तुम चाहो । यह हमेशा मुझसे लिपटा रहेगा ।"[1]

उधर "यह पथ बन्धु था" में नरेश मेहता ने जिस रचना पद्धति को स्वीकारा है वह विषय के अनुकूल साबित होता है । श्रीधर बाबू के जीवन के उन सारे पक्षों को वस्तुकथन और सीधी प्रस्तुति के माध्यम से अनावृत करने का प्रयास दिखाई पडता है । जिस तरह श्रीधर बाबू सीधा आदमी है, उसी तरह उसके कथन की शैली भी सीधी सादी लगती है । ऐसे कई प्रसंग आये हैं जिनमें पीडा को स्वर प्रदान करने की असीम क्षमता के दर्शन होते हैं । "इसके लिए कितना तरसी हूँ । आप आ गये । आप आ गये न ? अब तो नहीं जाएँगे न ? आप जो कहेंगे करूँगी नाथ ! लेकिन मुझे लोगों की दृष्टि में अब न गिराना । यदि और कोई परीक्षा शेष हो तो प्रभू ! अपने हाथों उसे ले लेना लेकिन अब छोड कर न जाना ।"[2] सरस्वती का यह विलाप दर्द भरा एहसास की सृष्टि करता है ।

---

1. डाक बँगला - कमलेश्वर - पृ. 90
2. यह पथ बंधु था - नरेश मेहता - पृ. 58।

प्रकृति और व्यक्ति के बीच के संबंधों को और प्राकृतिक सुषमा के असीम दृश्यों को प्रस्तुत कर मानवीय चेतना के सहज स्थिति का बोध करानेवाले उदाहरण ध्यान देने योग्य है । "धूप जब चली जाएगी न तब इतना सुहावनापन समेट कर सूर्य अपने साथ जाने कहाँ ले जाएगा तब यही अंधकार जंगली सुअर की तरह अपनी काली भयावनी थूँथ फुँफकारता हुआ दौडेगा ।"[1]

उधर "राग दरबारी" की रचना प्रक्रिया में आद्यंत संवेदना को व्यंग्य और चुभनेवाली शब्द योजना से जोडकर समसामयिक, राजनीतिक, पाखण्ड पर प्रहार करने का प्रयास मिलता है । "राग दरबारी" की शैली की शक्ति ही कुछ अनोखी है । अर्थ के, व्यंग्य के और उपहास के बहुत सारे अनदेखे पक्ष इसकी संरचना को अनोखा बना देते है । वैद्य के बातों में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है "ऐसा न करना चाहिए । विरोधी से भी सम्मानपूर्ण व्यवहार करना चाहिए । देखो न, प्रत्येक बडे नेता का एक-एक विरोधी है । सभी ने स्वेच्छा से अपना-अपना विरोधी पकड़ रखा है । यह जनतंत्र का सिद्धांत है । हमारे नेतागण कितनी शालीनता से विरोधियों को झेल रहे हैं । विरोधी गण अपनी बात बकते रहते हैं और नेतागण चुपचाप अपनी चाल चलते रहते हैं । कोई किसी से प्रभावित नहीं होता । यही आदर्श विरोध है । आप को भी यही रुख अपनाना चाहिए ।"[2]

---

1. यह पथ बंधु था - नरेश मेहता - पृ. 128
2. राग दरबारी - श्रीलाल शुक्ल - पृ. 45

"अंधेरे बन्द कमरे" में मोहन राकेश ने जिस रचनाप्रक्रिया को स्वीकारा है, वह उपन्यास के शैल्पिक महत्व को बनाए रखने में सहायक है । शहर और उसकी ज़िन्दगी की संकीर्णता, मानवीय संबंधों को उलझानेवाली स्थितियाँ आदि के बीच से नायक और नायिका की प्रतिक्रियाएँ जिस ढंग से बह निकलती है यह ध्यान देने योग्य है - नीलिमा, अपने और हरबंस के संबंध के बारे में कहती है "विवाहित जीवन में दो व्यक्तियों का शारीरिक संबंध ही सब कुछ नहीं होता, और मैं जानती हूँ कि मैं उसके लिए एक शारीरिक साधन से ज़्यादा कुछ नहीं हूँ । इस आभास के कारण मुझे अपना आप, कितना व्यर्थ और खाली-खाली लगता है, यह मैं कभी किसी को ठीक बता ही नहीं सकती ।..... पति पत्नी में जो चीज़ होती है, जो चीज़ होनी चाहिए, वह हममें कब की समाप्त हो चुकी है ।"[1]

पत्रों के माध्यमसे संवेदना की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक हुई है । हरबंस के पत्र के वाक्य भावाभिव्यंजना में सक्षम निकले हैं - "मैं अपने मन और शक्ति को किसी काम में नहीं लगा पाता । अतीत, वर्तमान और भविष्य और इन सब के ऊपर अपना अकेलापन, मेरे ऊपर बाघ की तरह झपटते रहते हैं । तुम्हारे साथ और तुम्हारे बिना, दोनों ही तरह ज़िन्दगी मुझे असंभव प्रतीत होती है ।"[2]

---

1. अन्धेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 508
2. अन्धेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 149

पात्रों के व्यवहार को प्रतीकात्मकता के साथ जोडकर नई अर्थ व्याप्ति प्रदान करने की कोशिश एक सीमा तक इस उपन्यास को अर्थपूर्ण बना देती है । वैसे ये प्रतीक व्यक्ति के मानसिक धरातल की बनावट की सूचना देनेवाले होते हैं । " बत्ती बदल जाने पर सड़क पार कर लेने का सुझाव हरबंस को अच्छा नहीं लगता । उसकी अरुचि की व्यंजना करनेवाला यह प्रसंग प्रतीकात्मक रूप में हरबंस का सारे परिवर्तनों को अस्वीकार करने की मनोवृत्ति को व्यंजित करता है ।"[1]

"अलग अलग वैतरणी" की रचना प्रक्रिया समूचे परिवेश को उभारने की दृष्टि से आयामित की गई लगती है । एक गाँव और वहाँ की ज़िन्दगी के पक्ष जब उभारे जाते हैं, तब स्थूल विवरणात्मक शब्दबद्धता का सहारा लिए बिना नहीं रहा जा सकता । "अभी भोर नहीं हुई थी । मगर पूर्वी आसमान में लालछौंहा उजास फूटने लगा था । बीसू धोबी का बेटा सुजितवा गधे पर लादी लादे गाता हुआ नदी की ओर चला जा रहा था -

"कबिरा गरब न कीजिये, इस जीवन की आस ।
टेसू फूले चार दिन, खंखर भये पलास ।।"[2]

गाँव की ज़िन्दगी को उभारने में शिवप्रसाद सिंह की कुशलता यहाँ दिखाई पड़ती है । आंचलिक पक्षों से जुड़नेवाले तेज-त्योहार, उत्सव, गीत-नृत्य आदि के कई दृश्यों को उभार कर परिवेश की यथार्थता का बोध कराया गया है ।

---

1. अंधेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश - पृ. 12
2. अलग अलग वैतरणी - शिवप्रसाद सिंह पृ 95

"वे दिन" उपन्यास की रचना प्रक्रिया आधुनिक मानव की नई तलाश का बोध करानेवाली है । सारे वातावरण को प्राग की गलियों से जोडने का लेखकीय प्रयास उपन्यास को स्पर्श प्रदान करता है । पात्र और उनकी प्रतिक्रियाएँ उसी तरह अजीब से लगते है, जिस तरह प्राग शहर की झलक। "धूप निकल आई थी । वेंसलेस चयावर के बीच पानी में भीगी ट्राम की लाइनें चमक रही थी । आकाश इतना नीला था कि उसे देखकर यह विचार भी बेतुका-सा लगता था कि कल शहर में बर्फ गिरी थी । जहाँ बर्फ थी, वहाँ अब पानी के गड्ढे उभर आये थे । हवा उन्हें छूती भी नहीं थी, लेकिन वे जैसे सहमकर पहले से ही काँपने लगते थे ।"[1]

इस उपन्यास में निर्मल वर्मा ने संवेदनहीनता को ही संवेदना के स्तर पर उभार कर रखने का प्रयास किया है । अस्तित्ववादी चेतना से प्रभावित होने के कारण संवेदनाओं का महत्वहीन बन जाना और उस स्थिति का बोध कराना दोनों लेखक के लिए आवश्यक है । रायना की विदाई के समय गैड कहता है "मैं तुम्हें जाने से रोक सकता था ।..... रायना का उत्तर है - "तुम जानते हो इट वुडन्ट हेल्प ।"[2] अस्तित्ववादी कथन शैली उपर्युक्त विदाई के प्रसंग को कम शब्दबद्ध करके अर्थबद्ध अधिक कर देता है ।

---

1. वे दिन - निर्मल वर्मा - पृ. 43
2. वे दिन - निर्मल वर्मा - पृ. 226

संबंधों की अर्थहीनता को अभिव्यक्ति देने का प्रयास "वे दिन" को अनोखा बना देता है । रायना और ज़ाक के बीच के संबंध निम्नलिखित ढंग से अभिव्यक्त होते हैं । "जब मैं उसके साथ रहती थी... मुझे कभी-कभी लगता था, जैसे हम दोनों अब भी किसी कान्सनट्रेशन कैम्प में रह रहे हैं..... एक ही घर में । उसके बाहर जाक..... वह जीवित नहीं था..... मैं भी नहीं । हम सिर्फ उसमें रहकर जी सकते थे..... लेकिन मैं नहीं रह सकी । एक दिन मैं बाहर आ गई..... यह जानते हुए भी कि बाहर मैं किसी काबिल नहीं रह गई हूँ.... नॉट ईवन फार लव ।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास की संरचनात्मक दृष्टि में आए हुए परिवर्तन की सूचना देनेवाले उपन्यास के रूप में मन्नू भण्डारी के "आप का बंटी" का अध्ययन किया जा सकता है । साधारण उपन्यासों की संवेदना से भिन्न एक संवेदनात्मक पक्ष को इसमें उभारा गया है । न यहाँ तिकोना प्यार है न खलनायक की भूमिका बाँधी गई है । बंटी को और उसकी मानसिकता को संरचना के अंदर आयामित करते समय, भाषागत प्रयोगात्मकता, शैलीगत विशिष्टता और मानसिक संघर्ष की बोधात्मकता, ये सब साथ-साथ उभरती हैं । शकुन जब नए पति के साथ बैठकर नए जीवन की अनुभूतियों का रस लेती है, तब ईडिप्पस ग्रंथि से विवश बंटी की प्रतिक्रिया संवेद्य हो जाती है । शब्द उसको पकड़ने की कोशिश करते हैं । "हुँह तो इसलिए परेशान हो रही थीं ममी । और उसके साथ ही भय की जगह एक

---

1. वे दिन - निर्मल वर्मा - पृ. 207

सन्तोष जागा और एकाएक नज़र ममी की उँगली में जगमगाती हुई अंगूठी पर चली गयी - यह भी डाक्टर साहब ने पहनाई थी । शादी का सारा दृश्य फिर आँखों के सामने घुस गया । मन में फिर कहीं कुछ कुलबुलाने लगा ।"[1]

उधर एक दूसरे प्रसंग में संवेदना विशेष प्रकार से संरचना के पक्षों से जुड़ने की कोशिश करती है । बंटी, जब शकुन को छोड़कर चला जाता है, तो शकुन का मातृत्व बिलखने लगता है । शकुन को सांत्वना देते हुए जब डा. जोशी उसे आलिंगनबद्ध कर लेता है तब एक नन्हे से हाथ का उन्हीं बलिष्ट हाथों के नीचे दबकर नष्ट हो जाने का एहसास बड़ा ही मार्मिक है ।

"शकुन तुम यहाँ हो, और नीचे किसी को पता तक नहीं । अरे यह क्या, तुम रो रही हो ? शकुन ! और दो सबल बाहें उसके चारों ओर घिर आईं और धीरे-धीरे पूरी की पूरी शकुन उनमें अपने आप ही बँधती चली गई, सिमटती चली गई । बस दो नन्हीं-नन्हीं बाहें उन सबल बाहों के नीचे अनदेखे अनजाने ही शायद मसल गईं ।"[2]

एक अन्य प्रसंग में शकुन के मातृत्व, उसके पत्नीत्व और प्रतिशोध की भावना, इन तीनों के बीच बंटी और बंटी का पिता अर्जाब

---

1. आप का बंटी - मन्नू भण्डारी - पृ. 136
2. आप का बंटी - मन्नू भण्डारी - पृ. 178

सी प्रतिक्रियात्मक तस्वीर को उभारते हुए प्रकट होते हैं । साथ-ही-साथ माता की ममता और पत्नी की विवशता स्त्री को जिस परेशानी का सामना करने के लिए मज़बूर करते हैं । उसकी भी तस्वीर उभारी गई है ।

"मुझे कोई एतराज नहीं होगा । सच पूछो तो मैं खुद अब यही चाहने लगी थी कि इसे तुम्हारे पास ही भेज दूँ । बहुत रख लिया । अब कम से कम मैं अपनी ज़िन्दगी जिऊँ..... अच्छा है, तुम्हारे और मीरा के बीच में भी दरार पड़े ।"[1] ऐसा मन ही मन सोचते हुए भी शकुन बंटी के चले जाने पर फूट फूट कर रो पडती है ।

वैसे "आप का बंटी" उपन्यास में जिस संरचनात्मक प्रयोग-धर्मिता को मन्नू भण्डारी ने अपनाया है, वह कई मायनों में विषयानुकूल होते हुए स्थितिबोध का सही संप्रेषण कराने में सफल होता है ।

उषा प्रियंवदा की संरचनात्मक दृष्टि "रुकोगी नहीं राधिका" में आधन्त विशिष्ट प्रकार से आयामित हुई है । इस उपन्यास की कथ्यात्मकता के आविष्करण के लिए नई शैली और प्रयोगात्मकता की आवश्यकता को लेखिका ने भली-भाँति महसूस किया है । विषय की असाधारणता,

---

1. आप का बंटी - मन्नू भण्डारी - पृ. 176

राधिका की प्रतिक्रिया, देश-विदेश का माहौल और सारे मूल्यों को तोड डालने की उच्छृंखलता आदि की मिली जुली अभिव्यक्ति, शब्द प्रयोग में और वाक्यों के गठन में प्रतिबिंबित होती है । पापा से राधिका का कथन है "बस बहुत हो चुका । आपने अपनी इच्छाओं के सामने कभी मेरी खुशी का ख्याल नहीं किया । बस, अब आप सब लोग मुझे अकेला छोड दे ।"[1]

उपन्यास की कथ्यात्मकता का केन्द्र बिंदु बनकर उभरनेवाली राधिका, नारी की उस मानसिकता का परिचय देती है जिसमें पुरुष के समान ही वह स्वतंत्रता की मुक्तभोगिनी बनना चाहती है । रूप से पुरुष होते हुए भी मानसिकता के आधार पर उनके कई वर्ग होते हैं । इन वर्गों की तुलना डैनियल, मनीश और अक्षय के साथ करके अपना अलग-सा निर्णय लेना राधिका का विशेष अधिकार रहा है । मनीश के फूल भेजने पर राधिका के विचार ध्यान देने योग्य है - "उन फूलों को कमरे में रखते हुए गत रात्रि की स्मृति फिर ताजी हो आई । राधिका को अपनी दृढ़ता पर आश्चर्य हुआ और थोडी खुशी भी । सुबह को इस उजली धूप में भी उसे लगा कि उसने ठीक ही निर्णय लिया । इससे पहले सदैव वह भावनाओं के साथ बहती रही, कभी यह नहीं सोचा कि यह लहर उसे किस तट पर ले जाकर पटकेगी । फिर भी, मनीश के आगे अक्षय कुछ "फैड" कर जाता है । ठीक है उसमें मनीश-सा सोफिस्टिकेशन नहीं है, पर वह अस्थिरता भी तो नहीं है ।[2]

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 43
2. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 83

उपर्युक्त विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त आत्म-साक्षात्कार का प्रयास राधिका करती है और मनोविश्लेषण के आधार पर अपने को पहचानने की कोशिश में लगी रहती है । इस स्थितिबोध का परिचय करानेवाली रचनाशैली ध्यान देने योग्य है । "बाद में, मिसेज होमर के घर रहते हुए, राधिका प्राय: सोचती कि उसे कोई भी पुरुष आकर्षक क्यों नहीं लगता ? क्या डैन सच कहता था कि अपने पिता के प्रति उसकी भावनाएँ एक मानसिक विकृति के रूप तक पहुँच गई थी और उसे कोई भी पुरुष पिता के सम्मुख नहीं जँचेगा । वह डैन के प्रति कुछ कृतज्ञ हो आई थी । डैन ने ही आँखों में उँगली घुमाकर हर चीज़, हर सत्य को सही परिप्रेक्ष्य में देखने को बाध्य किया ।"[1]

उपन्यास के अंत तक पहुँचते-पहुँचते राधिका का अनिर्णय, निर्णय में परिणत होता है और कहीं न रुकनेवाली राधिका रुकने का उपक्रम बनाती है और इस उपक्रम का भी अंत अधूरा ही रह जाता है..... "मनीश .....मेरे एक बंधु ।"[2]

"महाभोज" की रचनाशैली अन्य उपन्यासों की तुलना में अधिक विवरणात्मक और स्थितिबोधात्मक लगती है । "महाभोज" का विषय

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 30
2. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ. 116

ही इस रचना प्रक्रिया का आधार बनता है । राजनीतिक धाँधली का खेल खेलते समय शब्दों की अर्थपूर्ण व्यर्थता को बनाए रखने का प्रयास दा साहब के हरेक वक्तव्य में ज़ाहिर होता है । राजनेता के मुखौटे को ये शब्द शोभायमान बनाते हैं - "अगर जनता को विश्वास है मुकुल बाबू पर और वह उन्हें अपना वोट देती है तो सबसे पहले मैं उनका स्वागत करूँगा । यह मुकुल बाबू का नहीं, जनता का सत्य का स्वागत होगा और जनता को हमारे लिए ।"[1]

समानांतर रूप में बिसू की मृत्यु से और आगजनी से आक्रांत जनता की आवाज़ को स्वर प्रदत्त करते समय मन्नू भण्डारी ऐसे शब्दों का चयन करती है जो संवेदना की निरीहता को संरचना के अन्दर समाविष्ट करने के प्रयास के उदाहरण है "अरे दा साहब, काहे यह नौटंकी कर रहे हो यहाँ ? हरिजनों को जिन्दा जला दिया गया और आपकी सरकार और आपकी पुलिस तमाशा देखती रही और महीने-भर से खुद तमाशा कर रही है । हुआ आज तक कुछ ?"[2]

उपन्यास के अंत में जिस विशेष स्थिति का स्वरूप उभारा गया है, वह हृदयस्पर्शी बनता है । सफर करते समय रोती हुई रूकमा को सांत्वना देने के लिए एस. पी. सक्सेना बस "रूकमा" शब्द का प्रयोग

---

1. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 21
2. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 66

करता है । "इतना समझाने के बाद भी मुसाफिरों से भरे डिब्बे में रूक्मा का इस तरह रोना उन्हें अच्छा नहीं लग रहा था । थोडी सख्त आवाज़ में कहा, "चुप करो रूक्मा ।" चौंककर रूक्मा ने झटके से सिर उठाया और बडी अबूझ सी नज़रों से सक्सेना को देखती रही - इतना परिचित स्वर ! मगर वह यहाँ कहाँ ? वह तो जेल में है ।"[1] इस शब्द की गहराई में रूक्मा बिंदा की आवाज़ की गहराई को महसूस करती है और यह आवाज़ का एहसास उपन्यास की चरमसीमा को और उसके संरचनात्मक स्पर्श को अत्यधिक प्रभावात्मक बना देता है ।

"सूरजमुखी अँधेरे के" उपन्यास की संरचनात्मक प्रयोगात्मकता आद्यंत रत्ती की मानसिकता को उभारने की दृष्टि से आयोजित की गई है । रत्ती एक असाधारण पात्र है । उसकी परिस्थितियाँ भी असाधारण है । इसलिए शैलीगत प्रयोग और शब्द-चयन का विधान भी परिस्थिति के अनुकूल बना हुआ है । रत्ती अपने को दूसरों से बिलकुल अलग महसूस करती हैं । अँधेरे की सूरजमुखी बनना स्वयं एक प्रतीकात्मक अर्थ उभारनेवाला प्रयोग है । पुरुषों की दृष्टि में रत्ती वह है जो वह असल में नहीं है । उसके संबंध में उनकी प्रतिक्रियाएँ रचना की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है - रोहित रत्ती से कहता है -"कौन चाहेगा तुम्हें ? तुम एक ठण्डी और मनहूस लडकी ।"[2]

---

1. महाभोज - मन्नू भण्डारी - पृ. 159
2. सूरजमुखी अँधेरे के - कृष्णा सोबती - पृ. 67

स्वयं रत्ती क्या है इसका फैसला लेखिका भी नहीं दे पाती । इसलिए रत्ती को वही बनना पडता है, जो शब्दों के माध्यम से वह बनती है । "वह खुद सिर्फ है । उसका तीखापन, कडुवापन सब मर गये हैं । वह फीकी है । एक फीकी औरत । एक लडकी जो कभी लडकी नहीं थी । एक औरत जो कभी औरत नहीं थी ।"[1]

वैसे रत्ती का मातृभाव उसमें अन्ततोगत्वा जीवित रहनेवाली स्त्री का ही बोध कराता है । "कूमु" को गले से लगाकर प्यार दिखानेवाली रत्ती यह आभास दिलाती है कि, वह स्त्री है । माँ है और ममता की प्यासी है । उपर्युक्त प्रसंग का आयोजन बहुत ही अर्थपूर्ण संरचना का पक्ष लेता है ।

सेक्स की दृष्टि से वह क्या है, इसको वह खुद ही जानती है । बहुत सारे चुनाव के बाद किसी को दोस्त बनकर उसे अपनाने की कोशिश रत्ती की विवशता नहीं परंतु एक फैसला है । इस निर्णय में बाधा बनकर न कोई संबंध उभरता है, न कोई नैतिक पाबन्दी ही । मूल्यदृष्टि से भले ही यह नकारात्मक हो लेकिन वैयक्तिक दृष्टि से यह स्वीकार्य है । रत्ती के जीवन की इस परिवेशजन्य स्थिति, एक विशेष ढंग से अभिव्यंजित होते हैं । रत्ती विवाहित व्यक्ति दिवाकर का स्वागत करती हुई कहती है "मैं जुडे हुए को नहीं तोडूँगी । विभाजन नहीं करूँगा । मेरी देह

---

1. सूरजमुखी अंधेरे के - कृष्णा सोबती - पृ. 11

अब तुम्हारी प्रार्थना है दिवाकर । आओ दिवाकर, अपने और तुम्हारे विरुद्ध मैं अपने से ज़्यादा तुम्हें ही चाहती हूँ । आओ न ।"[1]

उपर्युक्त विवेचन के बाद यह स्पष्ट होने लगता है कि आलोच्य उपन्यासों की संरचनात्मक विशेषताएँ अलग-अलग सीमारेखाओं से जुड़ती हुई विषय की वैविध्यात्मकता के साथ नई शाब्दिक एवं अर्थबोधात्मक अवधारणाओं की सृष्टि करती है । रचनाधर्मिता की दृष्टि से उपन्यासकारों ने कथ्य और परिस्थितियों को प्रतीक, संकेत, शाब्दिक व्यंग्य, हास, उपहास और आत्मविश्लेषण आदि के माध्यम से सक्षम अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है । शैलीगत एवं शिल्पगत प्रयोगात्मकता कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण बन गई है । साथ ही कुछ ऐसे दृश्य भी उभरने लगे हैं, जो रचना की वस्तुकथनशैली और अनावश्यक विवरणात्मकता के परिणामस्वरूप बोझिल बन गए हैं । ऐसे भी कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ आवश्यकता से अधिक शब्द शक्ति का व्यय किया गया है । "उखड़े हुए लोग" का अंतिम अध्याय, "यह पथ बंधु था" के कुछ प्रसंग, अलग अलग वैतरणी के ग्राम्यबोधक चित्र इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते है । इन उपन्यासों की संरचनात्मक स्थूलता आत्यंतिक प्रभावसृष्टि में बाधक बनती है । फिर भी उपर्युक्त कमियाँ इसलिए नगण्य है कि रचना की अर्थवत्ता इन से बाधित नहीं होती ।

संक्षेप में चर्चित उपन्यासों की संवेदन क्षमता संरचनात्मकता के सहो पक्षों से जुड़ती दिखाई पड़ती है ।

---

1. सूरजमुखी अंधेरे के - कृष्णा सोबती - पृ. 125

§5§ मूल्य रूपायन की सामयिक अवधारणा - औपन्यासिक संदर्भ में :-

औपन्यासिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए मूल्यों की सामयिक अवधारणा पर विचार करना आवश्यक बात बन जाती है । उपन्यासों में जिन प्रसंगों का रूपायन हुआ है, वे प्रसंग समसामयिक मूल्यसंबंधी मान्यताओं पर नई दृष्टि से प्रकाश डालते हैं । मूल रूप में रचनाकारों ने समय के साथ परिवर्तित होनेवाली मूल्यवत्ता के स्वरूप को सही मायनों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । मूल्यसंबंधी अवधारणाएँ वैसे जनमानस की विचारधारा में आनेवाले परिवर्तन के परिचायक है । उन परिवर्तनों की गहराई में सांस्कृतिक, धार्मिक विश्वासों की और परंपराओं की अन्दरूनी उपधाराएँ प्रवाहमान रहती है । तत्कालीन जीवन के आर्थिक प्रश्न और जीते रहने के संघर्ष से जुडी हुई समस्याएँ भी इनमें अंदरलीन हुई हैं ।

समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि उपन्यासकारों ने मूल्यपरिवर्तन की स्थितियों को अनेक परिप्रेक्ष्यों से जोडकर देखने का प्रयास किया है । स्वातंत्र्योत्तरकालीन जीवन की संघर्षात्मक स्थितियों में आदर्शों का और पुरानी मान्यताओं का स्थान नष्ट होता जा रहा है । आज आदर्श के बदले आदर्श को निभाने का ढोंग ही महत्वपूर्ण बना हुआ है । "उखडे हुए लोग" उपन्यास राजनेताओं को गद्दी पर बने रहने के लिए जिस मुखौटे की ज़रूरत है उसका सामयिक स्वरूप प्रस्तुत करता है । आदर्शों की श्मशान भूमि से उन व्यक्तियों की दृष्टि में ही विजय

के नए पौधों का जन्म होता है । दूर खड़े हुए लोग, इस ऐंद्रजालिक परिवर्तन की असलियत को नहीं पहचान पाते । राजनेता सभी की आँखों में धूल झोंककर अपराजित रह जाता है ।

राजनीति की इसी सामयिक अवधारणा को मूल्यपरिवर्तन के परिवेश से जोड़कर "यह पथ बंधु था" में यह सिद्ध कर दिया है कि आदर्शों को बाज़ारों में बेचनेवाले ही सत्ता और प्रभुता को हथिया सकते हैं । असली आदर्शवादिता को गले से लगाकर चलनेवाले सदा पराजित और तिरस्कृत हो जाते हैं । श्रीधर बाबू इसका श्रेष्ठ उदाहरण है ।

राजनीति के एक और पक्ष को "राग दरबारी" में प्रस्तुत करते हुए श्रीलाल शुक्ल ने सामयिक राजनीति की स्थिति में धाँधली के और भ्रष्टता के सर्वव्यापी होने की और गाँवों की ज़िन्दगी को विषाक्त करने की बात प्रस्तुत की है ।

उधर "महाभोज" के माध्यम से कुर्सी के खेल - सत्ता की प्रतिष्ठा और राजनेताओं की धाँधली और धोखेबाज़ी की कथा को प्रस्तुत करते हुए यह दिखाया गया है कि, प्रजातंत्र में आदमी की कोई कीमत नहीं होती । मनुष्य सिर्फ वोटों की कीमत पर ही आँके जाते हैं । हरिजनों

को बचाने का और उनके उद्धार का ढोंग, उनको फँसाने का राजतंत्र मात्र है । दलित, पीडित और शोषित जनता की रक्षा का कोई भी प्रयास कहीं भी ईमानदारी के साथ नहीं दिखाई पडता ।

उधर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रूपायित होनेवाली मूल्य-संबंधी परिवर्तित मान्यताएँ व्यक्तिबोध और सामाजिक स्थितिबोध के बीच में होनेवाले संघर्ष का परिणाम लगता है । संबंधों का टूटकर बिखर जाना, पति-पत्नी का एक दूसरे के लिए अजनबी बन जाना, अहं की पीडाग्रस्त मनोवृत्ति, आर्थिक पहलुओं को रिश्ते नातों के ऊपर प्रतिष्ठित करने की बात, ऐसे मुद्दे हैं जिनको "अंधेरे बन्द कमरे", "अलग अलग वैतरणी", जैसे उपन्यासों में अंकित किया गया है । पति-पत्नी के बीच में जन्म लेनेवाले अलगाव शहरीकरण की और खण्डित परिवारों के माध्यम से उपजकर शहर का मूल्य बन गया है । पति और पत्नी के बीच तीसरे का होना स्वीकार्य तत्व बन गया है । "काड़यॉं" इसका एक और उदाहरण है ।

व्यक्तिवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा समसामयिक मूल्य अवधारणा का एक सहज पक्ष बन गया है । नारी भी अपनी आज़ादी की खोज करती हुई मूल्यों को नकार सकती है और स्वतंत्र इकाई के रूप में समाज में भूमिका अदा कर सकती है । "रुकोगी नहीं राधिका" की राधिका "सूरजमुखी अंधेरे के" की रत्ती और "डाक बँगले" की इरा इस परिवर्तित भूमिका के विविध आयामों को प्रस्तुत करती है ।

"आतंक", "आप का बंटी", "वे दिन" जैसे उपन्यास में परिलक्षित होनेवाली मनोवृत्तियाँ सामयिक मूल्य परिवर्तन की एक और तस्वीर उभारती है । शहर की समसामयिक ज़िन्दगी गुण्डों की अमानत बन गई है । इस गुण्डागर्दी की छत्रछाया में आतंकित होकर जीते हुए व्यक्ति, सच्चाई भूल जाता है और डर के वातावरण को सहज स्थिति से अपनाकर कायर की ज़िन्दगी जीता है । यह कायरता आज के मूल्य की गहराई में विद्यमान मनोवृत्ति है । बच्चों के लिए अपनी ज़िन्दगी की क़ुरबानी देने के लिए आज के माँ-बाप तैयार नहीं है । बच्चा और उसका भविष्य एक अलग सा सत्य है जिसको माता-पिता अपनी खुशियों से अलग करके देखना चाहती है । संबंधों की यांत्रिकता इस मनोवृत्ति में रूपायित होनेवाली मूल्यवत्ता है । बंटी अनाथ होकर जिए या होस्टल में मारा-मारा फिरें इससे माँ-बाप को कुछ लेना देना नहीं है ।

"वे दिन" की स्थितियाँ मानसिक और शारीरिक संबंधों को दो अलग स्तरों पर प्रतिष्ठित कर जीवन की क्षणिकता को और उसकी मज़बूरियों को नैतिक-पाबन्दियों से मुक्त करने का संदेश देती है । यह दृष्टि भी आधुनिक मूल्यवत्ता का परिवर्तित अंग बनती जा रही है ।

मूल्य रूपायन की सामयिक अवधारणा का औपन्यासिक संदर्भों में इस प्रकार मूल्यांकन करते समय यह स्पष्ट होने लगता है कि

उपन्यासकारों ने बदलती जीवन रेखाओं को और उनके बीच जन्म लेनेवाली मूल्यगत अंतरों को भली-भाँति पहचाना है । रेखाओं के बीच जन्म लेनेवाले मूल्यों का हल्कापन औपन्यासिक क्षितिजों के आर पार छाया हुआ है । यह इस बात की सूचना देता है कि मूल्यगत रंग अपना पुराना गहरापन खो चुके हैं ।

संक्षेप में संवेदना और संरचना के बहुआयामी पक्ष जिस सूक्ष्मता के साथ उपन्यासों की गहराई में विद्यमान हुए हैं, वे महत्ता के अधिकारी है । जनजीवन की वैविध्यात्मक भूमिकाओं को, उनकी आंतरिक संवेदनाओं को एक सीमा तक सक्षमता के साथ प्रस्तुत करने में लेखकीय संरचनात्मक प्रयास सफल हुआ लगता है । इस कारण लेखकों की रचनाधर्मिता समसामयिक जीवन के प्रति प्रतिबद्धात्मक होकर यथार्थ का सही स्वरूप प्रस्तुत करती हुई परिवर्तित मूल्यबोध की अर्थवत्ता को भी प्रतिष्ठित करती है ।

उपसंहार

उपसंहार

"मूल्य परिवर्तन की अवधारणा स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में" शीर्षक प्रस्तुत अध्ययन के अंत तक आते-आते कई महत्वपूर्ण निष्कर्षों की रूपरेखा स्वयं उभरकर आने लगती है । औपन्यासिक रचनाप्रक्रिया को व्यक्ति, समाज और मूल्य के परिप्रेक्ष्य से जोडते समय समाज की और व्यक्ति की जीवतंता प्रमुख मुद्दा बनकर उभरती है । व्यक्ति का जीवित रहना समाज के बने रहने के लिए आवश्यक है । व्यक्ति और समाज के अभाव में साहित्यिक रचना धर्मिता का कोई अर्थ नहीं रह जाता । अतः प्रतिबद्धात्मक लेखन के बहु आयामी संदर्भ उपन्यासों की आत्मवत्ता को बहुत ही सार्थक बना देते हैं ।

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में, मूल्यों में आए हुए बदलाव उपन्यासों के आधार पर एक स्वाभाविक परिणति के बोधक हैं, जिनका संबंध राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और मानवीय पहलुओं से जुडा हुआ है । व्यक्तिसत्ता, सामाजिक सत्ता के और शासन एवं प्रभुता के तत्वों से जुडती और अलग होती जब अपनी प्रतिक्रिया को प्रस्तुत करती है, तब उपन्यास की स्थितियों का आयोजन होने लगता है । घटनाविधान में आए हुए परिवर्तन की दृष्टि, पात्र संकल्पना की अनोखी सीमाएँ, संरचनात्मक क्षितिजों में आई हुई नई भंगिमाएँ, परिवर्तित सामाजिक संदर्भ के और उसी के बीच जीनेवाले व्यक्ति की अनेक रूपताओं की कथा प्रस्तुत करती है ।

अध्ययन के अंत में उभरनेवाले निष्कर्ष लेखकीय संवेदना की गहराई को और उसकी सच्चाई को प्रस्तुत करने में सार्थक हुए हैं । व्यक्ति की अकुलाहट, उसका संघर्ष, सामाजिक स्थितियों से उसका विरोध, सत्ता के द्वारा उसका दमन, पारिवारिक स्थितियों के बीच डवाँडोल होनेवाली व्यक्ति की आकांक्षाएँ, संबंध-निषेधों की गहराई में विद्यमान यंत्रणाएँ, आत्मपीड़न से उत्पन्न निर्वासन की स्थितियाँ, आतंकित वातावरण में प्रपीड़न का बोध, यथार्थ से मुख मोडकर पलायन करने की इच्छा, और अपने आश्रितों पर निर्दय प्रहार करने की राक्षसीय वृत्ति और उन सब के ऊपर छाई रहनेवाली मानवीयता की सहज मनोवृत्ति - ये सब चर्चित उपन्यासों के अंदर विद्यमान अनोखे रंग हैं । इन्हीं रंगों से रंगे जाने के कारण चर्चित उपन्यासों की रचनाधर्मिता और प्रतिबद्धता एक सीमा तक कालानुबद्ध होकर नई दिशा की प्रेरक बनती है ।

सन् 1955 से लेकर 1980 तक के पच्चीस वर्षों के बीच रचित उपन्यासों की मूल्यदृष्टि और परिवर्तित मूल्यबोध की अवधारणा पर विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचना पडता है कि मूल्य संबंधी मान्यताएँ परिवर्तित हो रही हैं । प्रत्येक उपन्यासकार कथ्यात्मक विशिष्टता के साथ-साथ इस पक्ष पर प्रकाश डालता दिखाई पडता है कि, समसामयिक समाज में सदियों पुरानी मान्यताओं की कोई अर्थवत्ता नहीं है । प्रासंगिकता की दृष्टि से समाज की आवश्यकताओं के अनुसार मूल्यों का बदलना एक ज़रूरत है । क्योंकि, समाज की गतिशीलता को बनाए रखने के लिए व्यक्ति

के जिंदा रहने के लिए, परिस्थितियों से किया जानेवाला संघर्ष नए परिवेश में नई बोधवत्ता से युक्त चेतना के द्वारा ही हो सकता है । इसके बदले समाज को, व्यक्ति को, उसकी मान्यताओं को पीछे की ओर खींच ले जाना, पुरानी मान्यताओं के आधार पर जीने के लिए मज़बूर करना अप्रासंगिक है ।

चर्चित उपन्यासों के अंदर जन्म लेनेवाली स्थितियाँ, सशक्त रूप में यह सूचित करती हैं कि, मूल्यों का आदर्शात्मक पक्ष, एक सैद्धांतिक तत्व मात्र है । क्योंकि, आदर्शों के आधार पर मूल्य स्थिर नहीं हो सकते । मूल्य गतिशील होते हैं, समाजबद्ध होते हैं । समाज की गति सामयिक परिस्थितियों के आधार पर निश्चित होती है और समाज अपनी गति को कभी रोक नहीं सकता । समाज के साथ, उसकी सामयिक मान्यताओं के साथ चलते समय व्यक्ति को आदर्शों से मुक्त होना पडता है । क्योंकि व्यावहारिक नीति के प्रहार को सहने में आदर्श असमर्थ हैं । दूसरे शब्दों में स्वातंत्र्योत्तर कालीन उपन्यासों ने व्यावहारिक मूल्यबोध की अवधारणा को सबसे अधिक प्रासंगिक सिद्ध किया है ।

उधर व्यावहारिक मूल्यों को स्वीकारे बिना जीवन को पुरानी मान्यताओं के जंजीरों से बाँधकर रखना पराजय की सबसे बडी निशानी है । पात्र संकल्पना करते समय, यथार्थ की कटुता को उनके साथ जोडते समय, पुरानी, नैतिक, आर्थिक और भावात्मक मूल्य संकल्पनाओं को

तिरस्कृत करने की सशक्त सूचनाएँ उपन्यासकारों ने प्रस्तुत की है । एक सीमा तक ये सूचनाएँ समसामयिक जीवन की यथार्थपरक घटना प्रक्रियाओं के अनुकूल हैं ।

लेखकीय रचनाधर्मिता ने विशिष्ट रूप में यह सिद्ध किया है कि, बदलते हुए समाज में जीनेवाले व्यक्ति सबसे पहले व्यक्ति हैं, बाद में ही पति, पत्नी, प्रेमिका, पिता, पुत्र या पुत्री । संबंधों को एक निर्वैयक्तिक धरातल पर प्रतिष्ठित करना आज की वैज्ञानिक जीवन पद्धति का अंग है और इसको परंपरा या संस्कृति के पूर्वमान्य जर्जर पिंजरों के अन्दर बन्द करना अपराध है । ऐसा करने से न व्यक्ति बच सकता है, न संबंध बने रह सकते हैं, न परंपरा और संस्कृति का पिंजरा ही बना रह सकता है । क्योंकि समय की थपेड़ों के साथ मान्यताओं के पिंजरों का टूटकर गिरना एक स्वाभाविक परिणति मात्र है । इसको कोई नहीं रोक सकता । अतः मूल्यपरिवर्तन हुए बिना नहीं रह सकता । यह हुआ है और होता रहेगा ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(क) मौलिक ग्रंथ

1. अन्धेरे बन्द कमरे - मोहन राकेश
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
पहला संस्करण - 1961

2. अलग अलग वैतरणी - शिवप्रसाद सिंह
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
चतुर्थ संशोधित संस्करण - 1988

3. आतंक - नरेन्द्र कोहली
राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
पहला संस्करण - 1972

4. आप का बंटी - मन्नू भण्डारी
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
बारहवाँ संस्करण - 1989

5. उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली
छात्र संस्करण - 1975.

6. कड़ियाँ - भीष्म साहनी
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
द्वितीय संस्करण - 1977

7. डाक बँगला - कमलेश्वर
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण - 1961

8. महाभोज - मन्नू भण्डारी
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
सोलहवीं आवृत्ति - 1992.

9. यह पथ बंधु था - नरेश मेहता
हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई
प्रथम संस्करण - 1962.

10. राग दरबारी - श्रीलाल शुक्ल
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
छठी आवृत्ति - 1980.

11. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
तीसरा संस्करण - 1988

12. वे दिन - निर्मल वर्मा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
दूसरा संस्करण - 1966

13. सूरजमुखी अंधेरे के - कृष्णा सोबती
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
द्वितीय संस्करण - 1974.

(ख) आलोचनात्मक ग्रंथ

14. अधूरे साक्षात्कार - नेमीचन्द्र जैन
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

15. आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - डा. रामविनोद सिंह
अनुपम प्रकाशन
पटना, प्र.सं. 1980.

16. आधुनिक काव्य में नवीन जीवनमूल्य - हुकुम चन्द
दीपक पब्लिशिंग
जलन्धर शहर
प्र. सं. 1972.

17. आधुनिकता और मूल्य-संक्रमण - डॉ. पुष्पलाल सिंह
संचेतना - जून 1980.

18. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य-- मूल्यों से प्रयाण - रघुवीर सिन्हा, शकुन्तला सिंहा

19. आँचलिक उपन्यास: संवेदना और शिल्प - डा. ज्ञानचन्द्र गुप्त
अभिनव प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण - 1975.

20. उपन्यास स्थिति और गति - डा. चन्द्रकांत बांदिवडेकर
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
सं. 1977

21. कथाकृती मोहन राकेश - ओम प्रभाकर
नेशनल पाब्लशिंग हाउस,
नई दिल्ली
प्र. सं. 1992.

22. छठे दशक की हिन्दी कहानी में जीवन-मूल्य - डॉ. अरूणा गुप्ता
इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन
दिल्ली, प्र. सं. 1989.

23. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में बाल मनोविज्ञान - डा. सुकृता अजमानी
पराग प्रकाशन, नई दिल्ली
सं. 1990

24. मानव मूल्य और साहित्य - डा. धर्मवीर भारती
भारतीय ज्ञान-पीठ
काशी
संस्करण - 1960.

25. मोहन राकेश का साहित्य: समग्र मूल्यांकन - डा. शरेशचन्द्र पुलकीमठ
आर्य प्रकाशन
दिल्ली
प्रथम संस्करण - 1989.

26. शिवप्रसाद सिंह का कथा साहित्य - सत्यदेव त्रिपाठी
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, प्र. सं. - 1988.

27. समकालीन लेखन एक वैचारिकी - डॉ. चन्द्रभान रावत
डॉ. रामकुमार खंडेलवाल
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली, प्र. सं. 1982.

28. समकालीन हिन्दी उपन्यास - डा. विवेकीराय
राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद
प्र. सं. 1987.

29. साठोत्तर हिन्दी कहानी: मूल्यों की तलाश - डॉ. वासुदेव शर्मा
सहयोग प्रकाशन, दिल्ली
प्र. सं. 1990.

30. साहित्य और आधुनिक युगबोध - देवेन्द्र इस्सर
जयकृष्ण अग्रवाल
कृष्णा ब्रदर्स, कचहरी रोड
अजमेर
प्र. सं. 1973.

31. सौंदर्य मूल्य और मूल्यांकन - डा. रमेश कुन्तल मेघ

32. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास - डा. रामगोपाल सिंह चौहान
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।
सं. 1962.

33. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में - डा. उमेश प्रसादसिंह
विजय कुमार अग्रवाल
शिक्षा निकेतन
सुडिला वाराणसी
प्र. सं. 1988.

34. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्यसंक्रमण - डा. हेमेन्द्र कुमार
पानेरी
संधी प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम संस्करण - 1974.

35. हिन्दी उपन्यास – डा. सुरेश सिन्हा
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
द्वितीय संस्करण - 1972

36. हिन्दी उपन्यास के पदचिह्न – मनमोहन सहगल
सूर्य प्रकाशन, दिल्ली

37. हिन्दी उपन्यास महाकाव्य के स्वर – डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त
अशोक प्रकाशन
दिल्ली
प्र. सं. 1971.

38. हिन्दी उपन्यास प्रतीकात्मक शिल्प – सुशीला शर्मा
सिद्धु राम पब्लिकेशन्स
दिल्ली

39. हिन्दी उपन्यास में पारिवारिक संदर्भ – उषा मंत्री
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली
प्र. सं. 1981.

40. हिन्दी उपन्यास - सामाजिक चेतना – डॉ. कुँवरपालसिंह
पांडुलिपि प्रकाशन
दिल्ली
प्र. सं. 1976.

41. हिन्दी कथा साहित्य समकालीन संदर्भ - डॉ. ज्ञान अस्थाना
जवाहर पुस्तकालय
मथुरा
प्र.सं. 1981.

42. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - डा. रामदरश मिश्र
वाणी प्रकाशन
दिल्ली

43. हिन्दी के महाकाव्यात्मक उपन्यास - पुष्पा कोहली
नचिकेता प्रकाशन
दिल्ली

44. हिन्दी में आँचलिक उपन्यास परंपरा और विकास - अमरेंद्र मिश्र
"आजकल", मार्च-1981.

45. हिन्दी लघु उपन्यास - घनश्याम मधुप
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली
संस्करण - 1971.

46. हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य - सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय

47 Basic of Ethics - C.A. Allowed

(ग) कोश ग्रंथ

48. संस्कृत हिन्दी कोश - वामन शिवराज आप्टे
मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली
द्वितीय संस्करण - 1969.

49. प्रामाणिक हिन्दी कोश - रामचन्द्र वर्मा

(घ) पत्रिकाएँ

50. आजकल - अक्तूबर - 1980

51. आलोचना - अक्तूबर-दिसम्बर - 1985

52. आलोचना - जनवरी-मार्च - 1986

53. ज्योत्सना - जुलाई 1979

54. ज्योत्सना - जून 1982

55. साक्षात्कार - अक्तूबर - 1992

56. साक्षात्कार - जून-जुलाई - 1986

57. साक्षात्कार - अप्रैल - 1993.